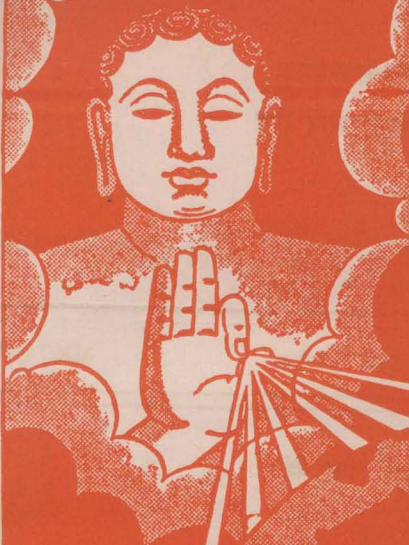


श्रमण



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

वाराणसी-५

अप्रैल-जून-१९६०

वर्ष ४१

अंक ४-६
अंक ४-५

प्रधान सम्पादक
प्रो० सागरमल जैन

सहसम्पादक

डा० शिवप्रसाद

वर्ष ४१

अप्रैल-जून १९९०

अंक ४-६

प्रस्तुत अंक में

- | | |
|---|-----|
| १. जैनधर्म में तीर्थ की अवधारणा
— प्रो० सागरमल जैन | १ |
| २. जैन संस्कृति और श्रमण परम्परा
— डॉ० शान्ताराम भालचन्द्र देव | २९ |
| ३. मानव व्यक्तित्व का वर्गीकरण
— डा० त्रिवेणी प्रसाद सिंह | ४१ |
| ४. सूत्रकृतांग में वर्णित दार्शनिक विचार
— डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय | ५१ |
| ५. पार्श्वनाथ जन्मभूमि मंदिर, वाराणसी की पुरातत्त्ववीय वैभव
— प्रो० सागरमल जैन | ७७ |
| ६. प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक वैभव
— प्रवेश भारद्वाज | ८९ |
| ७. विद्याश्रम की गतिविधियाँ | १०१ |
| ८. जैन जगत् | १०३ |
| ९. साहित्य सत्कार | १०५ |

वार्षिक शुल्क
चालीस रुपये

एक प्रति
दस रुपया

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो ।

जैनधर्म में तीर्थ की अवधारणा

—प्रो० सागरमल जैन

जैनधर्म में तीर्थ का महत्त्व

ममग्र भारतीय परम्पराओं में 'तीर्थ' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है फिर भी जैन परम्परा में तीर्थ को जो महत्त्व दिया गया है वह विशिष्ट ही है, क्योंकि उसमें धर्म को ही तीर्थ कहा गया है और धर्म-प्रवर्तक तथा उपासना एवं साधना के आदर्श को तीर्थकर कहा गया है। अन्य धर्म परम्पराओं में जो स्थान ईश्वर का है, वही जैन परम्परा में तीर्थङ्कर का है। तीर्थङ्कर को धर्मरूपी तीर्थ का संस्थापक माना जाता है। दूसरे शब्दों में जो तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग की स्थापना करता है, वही तीर्थङ्कर है। इस प्रकार जैनधर्म में तीर्थ एवं तीर्थङ्कर की अवधारणाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं और वे जैनधर्म की प्राण हैं।

जैनधर्म में तीर्थ का सामान्य अर्थ

जैनाचार्यों ने तीर्थ की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तीर्थ शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया है— तीर्थते अनेनेति तीर्थः^१ अर्थात् जिसके द्वारा पार हुआ जाता है वह तीर्थ कहलाता है। इस प्रकार सामान्य अर्थ में नदी, समुद्र आदि के वे तट जिनसे उस पार जाने की यात्रा प्रारम्भ की जाती थी तीर्थ कहलाते थे; इस अर्थ में जैनागम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में मागध तीर्थ, वरदाम तीर्थ और प्रभास तीर्थ का उल्लेख मिलता है।^२

तीर्थ का लाक्षणिक अर्थ

लाक्षणिक दृष्टि से जैनाचार्यों ने तीर्थ शब्द का अर्थ लिया—जो संसार समुद्र से पार करता है, वह तीर्थ है और ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थङ्कर है। संक्षेप में मोक्ष-मार्ग को ही तीर्थ कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में श्रुतधर्म, साधना-मार्ग, प्रावचन, प्रवचन

१. (अ) अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२

(ब) स्थानांग टीका।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३।५७, ५९, ६२ (सम्पा० मधुकर मुनि)

और तीर्थ—इन पांचों को पर्यायवाची बताया गया है।^१ इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में तीर्थ शब्द केवल तट अथवा पवित्र या पूज्य स्थल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीर्थ से जैनों का तात्पर्य मात्र किसी पवित्र स्थल तक ही सीमित नहीं है। वे तो समग्र धर्ममार्ग और धर्म-साधकों के समूह को ही तीर्थ-रूप में व्याख्यायित करते हैं।

तीर्थ का आध्यात्मिक अर्थ

जैनों ने तीर्थ के लौकिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ से ऊपर उठकर उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में चाण्डाल-कुलोत्पन्न हरकेशी नामक महान् निर्ग्रन्थ साधक से जब यह पूछा गया कि आपका सरोवर कौन-सा है? आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है? तो उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि धर्म ही मेरा सरोवर है और ब्रह्मचर्य ही शान्ति-तीर्थ है जिसमें स्नान करके आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाती है।^२ विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सरिता आदि द्रव्यतीर्थ तो मात्र बाह्यमल अर्थात् शरीर की शुद्धि करते हैं अथवा वे केवल नदी, समुद्र आदि के पार पहुँचाते हैं, अतः वे वास्तविक तीर्थ नहीं हैं। वास्तविक तीर्थ तो वह है जो जीव को संसार-समुद्र से उस पार मोक्षरूपी तट पर पहुँचाता है।^३ विशेषावश्यक-

१. सुयधम्मतित्थमग्गो पावयणं पवयणं च एगट्ठा ।
सुत्तं तंतं गंधो पाढो सत्थं पवयणं च एगट्ठा ॥
विशेषावश्यकभाष्य, १३७८
२. के ते हरए ? के य ते सन्तित्थे ?
कहिंसि णहाओ व रयं जहासि ?
धम्मे हरये बंधे सन्तित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।
जहिंसि णहाओ विमलो विसुद्धो
सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ उत्तराध्ययनसूत्र, १२।४५-४६
३. देहाइतारयं जं बज्झमलावणयणाइमेत्तं च ।
णेगंताणच्चंतियफलं च तो दव्वतित्थं तं ॥
इह तारणाइफलयंति ण्हाण-पाणा-ऽवगाहणईहि ।
भवतारयंति केई तं नो जीवोवघायाओ ॥

विशेषावश्यकभाष्य १०२८-१०२९

भाष्य में न केवल लौकिक तीर्थस्थलों (द्रव्यतीर्थ) की अपेक्षा आध्यात्मिक तीर्थ (भावतीर्थ) का महत्त्व बताया गया है, अपितु नदियोंके जल में स्नान और उसका पान अथवा उनमें अवगाहन मात्र से संसार से मुक्ति मान लेने की धारणा का खण्डन भी किया गया है। भाष्यकार कहता है कि “दाह की शान्ति, तृषा का नाश इत्यादि कारणों से गंगा आदि के जल को शरीर के लिए उपकारी होने से तीर्थ मानते हो तो अन्य खाद्य, पेय एवं शरीर-शुद्धि करने वाले द्रव्य इत्यादि भी शरीर के उपकारी होने के कारण तीर्थ माने जायेंगे किन्तु इन्हें कोई भी तीर्थरूप में स्वीकार नहीं करता है”^१ वास्तव में तो तीर्थ वह है जो हमारे आत्मा के मल को धोकर हमें संसार सागर से पार कराता है। जैन परम्परा की तीर्थ की यह अध्यात्मपरक व्याख्या हमें वैदिक परम्परा में भी उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है—सत्य तीर्थ है, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह भी तीर्थ है। समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव, चित्त की सरलता, दान, सन्तोष, ब्रह्मचर्य का पालन, प्रियवचन, ज्ञान, धैर्य और पुण्य कर्म—ये सभी तीर्थ हैं।^२

द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ

जैनों ने तीर्थ के जंगमतीर्थ और स्थावरतीर्थ ऐसे दो विभाग भी किये हैं।^३ इन्हें हम क्रमशः चेतनतीर्थ और जड़तीर्थ अथवा भावतीर्थ

१. देहोवगारि वा तेण तित्थमिह दाहनासणाईहि ।

महु-मज्ज-मंस-वेस्सादओ वि तो तित्थमावन्नं ॥

विशेषावश्यकभाष्य १०३१

२. सत्यं तीर्थ क्षमा तीर्थ तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।

सर्वभूतदयातीर्थ सर्वत्रार्जवमेव च ॥

दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते ।

ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥

तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिमनसः परा ।

शब्दकल्पद्रुम—‘तीर्थ’, पृ० ६२६

३. भावे तित्थं संघो सुयविहियं तारओ तहिं साहू ।

नाणाइतियं तरणं तरियव्वं भवसमुद्दो यं ॥

निसोपावश्यकभाष्य १०३२

और द्रव्यतीर्थ भी कह सकते हैं। वस्तुतः नदी, सरोवर आदि तो जड़ या द्रव्य तीर्थ हैं, जबकि श्रुतविहित मार्ग पर चलने वाला संघ भाव-तीर्थ है और वही वास्तविक तीर्थ है। उसमें साधुजन पार कराने वाले हैं, ज्ञानादि रत्नत्रय नौका-रूप तैरने के साधन हैं और संसार-समुद्र ही पार करने की वस्तु है। जिन ज्ञान दर्शन-चारित्र्य आदि द्वारा अज्ञानादि सांसारिक भावों से पार हुआ जाता है, वे ही भावतीर्थ हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मल हैं, इनको जो निश्चय ही दूर करता है वही वास्तव में तीर्थ है।^१ जिनके द्वारा क्रोधादि की अग्नि को शान्त किया जाता है वही संघ वस्तुतः तीर्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन जैन परम्परा में आत्मशुद्धि की साधना और जिस संघ में स्थित होकर यह साधना की जा सकती है, वह संघ ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

‘तीर्थ’ के चार प्रकार

विशेषावश्यकभाष्य में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख है, नाम-तीर्थ, स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। जिन्हें तीर्थ नाम दिया गया है वे नामतीर्थ हैं। वे विशेष स्थल जिन्हें तीर्थ मान लिया गया है, वे स्थापनातीर्थ हैं। अन्य परम्पराओं में पवित्र माने गये नदी, सरोवर आदि अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण के स्थल द्रव्यतीर्थ हैं, जबकि मोक्षमार्ग और उसकी साधना करने वाला चतुर्विधसंघ भावतीर्थ है।^२ इस प्रकार जैनधर्म में सर्वप्रथम तो जिनोपदिष्ट धर्म, उस धर्म का पालन करने वाले साधु-

१. जं नाण-दंसण-चरितभावओ तव्विवक्खभावाओ ।
भव भावओ य तारेइ तेणं तं भावओ तित्थं ॥
तह कोह-लोह-कम्ममयदाह-तण्हा-मलावणयणाइं ।
एगंतेणच्चंतं च कुणइ य सुद्धिं भवोघाओ ॥
दाहोवममाइसु वा जं तिसु थियमहव दंसगाईसु ।
तो तित्थं संघो च्चिय उभयं व विसेसणविसेस्सं ॥
कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव जस्स तिण्णत्था ।
होइ तियत्थं तित्थं तमत्थवद्दो फलत्थोस्यं ॥

विशेषावश्यकभाष्य, १०३३-१०३६

२. नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च ।

अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२

साधवी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विधसंघ को ही तीर्थ और उसके संस्थापक को तीर्थङ्कर कहा गया है। यद्यपि परवर्ती काल में पवित्र स्थल भी द्रव्य तीर्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं।

तीर्थ शब्द धर्मसंघ के अर्थ में

प्राचीन काल में श्रमण परम्परा के साहित्य में 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग धर्म-संघ के अर्थ में होता रहा है। प्रत्येक धर्मसंघ या धार्मिक साधकों का वर्ग तीर्थ कहलाता था, इसी आधार पर अपनी परम्परा से भिन्न लोगों को तैथिक या अन्यतैथिक कहा जाता था। जैन साहित्य में बौद्ध आदि अन्य श्रमण परम्पराओं को तैथिक या अन्य-तैथिक के नाम से अभिहित किया गया है।^१ बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जससुत्त में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर के अतिरिक्त मंखलि-गोशालक, अजितकेशकम्बल, पूर्णकाश्यप, पकुधकात्यायन आदि को भी तित्थकर (तीर्थकर) कहा गया है।^२ इससे यह फलित होता है कि उनके साधकों का वर्ग भी तीर्थ के नाम से अभिहित होता था। जैन परम्परा में तो जैनसंघ या जैन साधकों के समुदाय के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक यथावत् प्रचलित है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए कहा है कि हे भगवन् ! आपका यह तीर्थ सर्वोदय अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है।^३ महावीर का धर्मसंघ सदैव ही तीर्थ के नाम से अभिहित किया जाता रहा है।

साधना की सुकरता और दुष्करता के आधार पर तीर्थों का वर्गीकरण

विशेषावश्यकभाष्य में साधना पद्धति के सुकर या दुष्कर होने के आधार पर भी इन संघरूपी तीर्थों का वर्गीकरण किया गया है।

१. 'परतित्थिया'—सूत्रकृतांग, १।६।१
२. एवं वुत्ते, अन्नतरो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहि-पुत्तं एतदवोच—'अयं, देव, पूरणो कस्सपो सङ्घी चैव गणी च गणाचरियो च, नातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहु-जनस्स, रत्तन्नु, चिरपव्वजितो, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो।
दीघनिकाय (सामञ्जससुत्तं) २।२
३. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, ५०१२

भाष्यकार ने चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

१. सर्वप्रथम कुछ तीर्थ (तट) ऐसे होते हैं 'जिनमें प्रवेश भी सुखकर होता है और जहाँ से पार करना भी सुखकर होता है; इसी प्रकार कुछ तीर्थ या साधक-संघ ऐसे होते हैं, जिनमें प्रवेश भी सुखद होता है और साधना भी सुखद होती है। ऐसे तीर्थ का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने शैवमत का उल्लेख किया है, क्योंकि शैव सम्प्रदाय में प्रवेश और साधना दोनों ही सुखकर माने गये हैं।
२. दूसरे वर्ग में वे तीर्थ (तट) आते हैं जिनमें प्रवेश तो सुखरूप हो किन्तु जहाँ से पार होना दुष्कर या कठिन हो। इसी प्रकार कुछ धर्मसंघों में प्रवेश तो सुखद होता है किन्तु साधना कठिन होती है। ऐसे संघ का उदाहरण बौद्ध-संघ के रूप में दिया गया है। बौद्ध संघ में प्रवेश तो सुलभतापूर्वक सम्भव था, किन्तु साधना उतनी सुखरूप नहीं थी, जितनी कि शैव सम्प्रदाय की।
३. तीसरे वर्ग में ऐसे तीर्थ का उल्लेख हुआ है 'जिसमें प्रवेश तो कठिन है किन्तु साधना सुकर है।' भाष्यकार ने इस सन्दर्भ में जैनों के ही अचेल सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इस संघ में अचेलकता अनिवार्य थी, अतः इस तीर्थ को प्रवेश की दृष्टि से दुष्कर, किन्तु अनुपालन की दृष्टि से सुकर माना गया है।
४. ग्रन्थकार ने चौथे वर्ग में उस तीर्थ का उल्लेख किया है जिसमें प्रवेश और साधना दोनों दुष्कर हैं और स्वयं इस रूप में अपने ही सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यह वर्गीकरण कितना समुचित है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इतना

१. अह्व सुहोत्तारूत्तारणाइ दब्बे चउडिवहं तित्थं ।

एवं चिय भावम्मि वि तत्थाइमयं सरक्खाणं ॥

विशेषावश्यकभाष्य, १०४१-४१

(भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख किया है।)

निश्चित है कि साधना-मार्ग की सुकरता या दुष्करता के आधार पर जैन परम्परा में विविध प्रकार के तीर्थों की कल्पना की गई है और साधना-मार्ग को ही तीर्थ के रूप में ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में तीर्थ से तात्पर्य मुख्य रूप से पवित्र स्थल की अपेक्षा साधना-विधि से लिया गया है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप मोक्षमार्ग को ही भावतीर्थ कहा गया है, क्योंकि ये साधक के विषय कषायरूपी मल को दूर करके समाधि रूपी आत्मशान्ति को प्राप्त करवाने में समर्थ हैं। प्रकारान्तर से साधकों के वर्ग को भी तीर्थ कहा गया है। भगवतीसूत्र में तीर्थ की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चतुर्विध श्रमणसंघ ही तीर्थ है।^१ श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकायें इस चतुर्विध श्रमणसंघ के चार अंग हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि प्राचीन जैन ग्रन्थों में तीर्थ शब्द को संसार समुद्र से पार कराने वाले साधन के रूप में ग्रहीत करके त्रिविध साधना-मार्ग और उसका अनुपालन करने वाले चतुर्विध श्रमणसंघ को ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ

जैनों की दिग्म्बर परंपरा में तीर्थ का विभाजन निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ के रूप में हुआ है। निश्चयतीर्थ के रूप में सर्वप्रथम तो आत्मा के शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को ही निश्चयतीर्थ कहा गया है। उसमें कहा गया है कि पंचमहाव्रतों से युक्त सम्यक्त्व से विशुद्ध, पांच इन्द्रियों से संयत निरपेक्ष आत्मा ही ऐसा तीर्थ है जिसमें दीक्षा और शिक्षा रूप स्नान करके पवित्र हुआ जाता है।^२ पुनः निर्दोष सम्यक्त्व,

१. तित्थं भंते तित्थं तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव णियमा तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वणाइणे समणसंघे । तं जहा—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ य ।

भगवतीसूत्र, शतक २०, उद्दे० ८,

२. 'वयसंमत्तविमुद्धे पंचेदियसंजदे णिरावेक्खो ।

पहाए उ मुणी तित्थेदिक्खासिक्खा सुहाणेण ।'

बोधपाठुड, मू०।२६-२७

क्षमा आदि धर्म, निर्मलसंयम, उत्तम तप और यथार्थज्ञान—ये सब भी कषायभाव से रहित और शान्तभाव से युक्त होने पर निश्चय-तीर्थ माने गये हैं।^१ इसी प्रकार मूलाचार में श्रुतधर्म को तीर्थ कहा गया है,^२ क्योंकि वह ज्ञान के माध्यम से आत्मा को पवित्र बनाता है। सामान्य निष्कर्ष यह है कि वे सभी साधन जो आत्मा के विषय-कषाय-रूपी मल को दूर कर उसे संसार समुद्र से पार उतारने में सहायक होते हैं या पवित्र बनाते हैं, वे निश्चयतीर्थ हैं। यद्यपि बोधपाहुड की टीका (लगभग ११वीं शती) में यह भी स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि 'जो निश्चयतीर्थ की प्राप्ति का कारण है ऐसे जगत्-प्रसिद्ध मुक्तजीवों के चरणकमलों से संस्पर्शित उर्जयंत, शत्रुञ्जय, पावागिरि आदि तीर्थ हैं और कर्मक्षय का कारण होने से वे व्यवहारतीर्थ भी वन्दनीय माने गये हैं।'^३ इस प्रकार दिग्म्बर परम्परा में भी साधना-मार्ग और आत्म-विशुद्धि के कारणों को निश्चयतीर्थ और पंचकल्याणक भूमियों को व्यवहार तीर्थ माना गया है। मूलाचार में भी यह कहा गया है कि दाहोपशमन, तृषानाश और मल की शुद्धि ये तीन कार्य जो करते हैं वे द्रव्यतीर्थ हैं किन्तु जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त जिनदेव हैं वे भावतीर्थ हैं। यह भावतीर्थ ही निश्चयतीर्थ है। कल्याणक भूमि तो व्यवहारतीर्थ है।^४ इस प्रकार श्वेताम्बर और दिग्म्बर दोनों ही परम्पराओं में प्रधानता तो भावतीर्थ या निश्चयतीर्थ को ही दी गई है, किन्तु आत्मविशुद्धि के हेतु या प्रेरक होने के कारण द्रव्यतीर्थों या व्यवहारतीर्थों को भी स्वीकार किया गया है। स्मरण रहे कि अन्य धर्म परम्पराओं में जो तीर्थ की अवधारणा उपलब्ध है, उसकी तुलना जैनों के द्रव्य-तीर्थ से की जा सकती है।

१. बोधपाहुड, टीका २६।९।२१

२. सुदधम्मो एत्थ पुण तित्थं । मूलाचार, ५५७

३. 'तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थं प्राप्तिकारणं
मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थं उर्जयन्तशत्रुञ्जयलाटदेशपावागिरि—।

बोधपाहुड, टीका, २७।९३।७

४. द्विहं च होइ तित्थं णादब्बं दव्वभावसंजुत्तं ।

एदेसि दोण्हं पि य पत्तोय परूवणा होदि ॥

मूलाचार, ५६०

जैन परम्परा में तीर्थ शब्द का अर्थ-विकास

श्रमण-परम्परा में प्रारम्भ में तीर्थ की इस अवधारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया था। विशेषावश्यकभाष्य जैसे प्राचीन आगमिकव्याख्या ग्रन्थों में भी वैदिक परम्परा में मान्य नदी, सरोवर आदि स्थलों को तीर्थ मानने की अवधारणा का खण्डन किया गया और उसके स्थान पर रत्नत्रय से युक्त साधनामार्ग अर्थात् उस साधना में चल रहे साधक के संघ को तीर्थ के रूप में अभिहित किया गया है। यही दृष्टिकोण अचेल परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में भी देखा जाता है, जिसका उल्लेख पूर्व में हम कर चुके हैं।

किन्तु परवर्ती काल में जैन परम्परा में तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा में परिवर्तन हुआ और द्रव्यतीर्थ अर्थात् पवित्र स्थलों को भी तीर्थ माना गया। सर्वप्रथम तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा, कैवल्य और निर्वाण से सम्बन्धित स्थलों को पूज्य मानकर उन्हें तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर तीर्थकरों के जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित स्थल ही नहीं अपितु गणधर एवं प्रमुख मुनियों के निर्वाण-स्थल और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना से जुड़े हुए स्थल भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किये गये। इससे भी आगे चलकर वे स्थल भी, जहाँ कलात्मक मन्दिर बने या जहाँ की प्रतिमाएँ चमत्कारपूर्ण मानी गयीं, तीर्थ कहे गये।

हिन्दू और जैनतीर्थ की अवधारणाओं में मौलिक अन्तर

यह सत्य है कि कालान्तर में जैनों ने हिन्दू परम्परा के समान ही कुछ स्थलों को पवित्र और पूज्य मानकर उनकी पूजा और यात्रा को महत्त्व दिया, किन्तु फिर भी दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू परम्परा नदी, सरोवर आदि को स्वतः पवित्र मानती है, जैसे—गंगा। यह नदी किसी ऋषि-मुनि आदि के जीवन की किसी घटना से सम्बन्धित होने के कारण नहीं, अपितु स्वतः ही पवित्र है। ऐसे पवित्र स्थल पर स्नान, पूजा-अर्चना, दान पुण्य एवं यात्रा आदि करने को एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थ स्थल को अपने आप में पवित्र नहीं माना गया, अपितु यह माना गया कि तीर्थकर अथवा अन्य त्यागी-नपस्वी महापुरुषों के जीवन से

सम्बन्धित होने के कारण वे स्थल पवित्र बने हैं। जैनों के अनुसार कोई भी स्थल अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं होता, अपितु वह किसी महापुरुष से सम्बद्ध होकर या उनका सान्निध्य पाकर पवित्र माना जाने लगता है, यथा—कल्याणक भूमियाँ; जो तीर्थंकर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाणस्थल होने से पवित्र मानी जाती हैं। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थलों को पवित्र माना गया है।

हिन्दू और जैन परम्परा में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ हिन्दू परम्परा में प्रमुखतया नदी-सरोवर आदि को तीर्थ रूप में स्वीकार किया गया है वहीं जैन परम्परा में सामान्यतया किसी नगर अथवा पर्वत को ही तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया गया। यह अन्तर भी मूलतः तो किसी स्थल को स्वतः पवित्र मानना या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के कारण पवित्र मानना—इसी तथ्य पर आधारित है। पुनः इस अन्तर का एक प्रसिद्ध कारण यह भी है—जहाँ हिन्दू परम्परा में बाह्य शौच (स्नानादि शारीरिक शुद्धि) की प्रधानता थी, वहीं जैन परम्परा में तप और त्याग द्वारा आत्मशुद्धि की प्रधानता थी, स्नानादि तो वर्ज्य ही माने गये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि जहाँ हिन्दू परम्परा में नदी-सरोवर तीर्थ रूप में विकसित हुए, वहाँ जैन परम्परा में साधना-स्थल के रूप में वन-पर्वत आदि तीर्थों के रूप में विकसित हुए। यद्यपि आपवादिक रूप में हिन्दू परम्परा में भी कैलाश आदि पर्वतों को तीर्थ माना गया, वहीं जैन परम्परा में शत्रुंजय नदी आदि को पवित्र या तीर्थ के रूप में माना गया है, किन्तु यह इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था। पुनः हिन्दू परम्परा में जिन पर्वतीय स्थलों जैसे कैलाश आदि को तीर्थ रूप में माना गया उनके पीछे भी किसी देव का निवासस्थान या उसकी साधनास्थली होना ही एकमात्र कारण था, किन्तु यह निवृत्तिमार्गी परम्परा का ही प्रभाव था। दूसरी ओर हिन्दू परंपरा के प्रभाव से जैनों में भी यह अवधारणा बनी कि यदि शत्रुंजय नदी में स्नान नहीं किया तो मानव जीवन ही निरर्थक हो गया।

‘सतरूँजी नदी नहायो नहीं, तो गयो मिनख जमारो हार’ ।

तीर्थ और तीर्थयात्रा

पूर्व विवरण से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में 'तीर्थ' शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकास-क्रम है। सर्वप्रथम जैन धर्म में गंगा आदि लौकिक तीर्थों की यात्रा तथा वहाँ स्नान, पूजन आदि को धर्म साधना की दृष्टि से अनावश्यक माना गया और तीर्थ शब्द को आध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर आध्यात्मिक साधना-मार्ग को तथा उस साधना का अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को ही तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा में भी तीर्थ-ङ्करो की कल्याणक भूमियों को पवित्र स्थानों के रूप में मान्य करके तीर्थ की लौकिक अवधारणा का विकास हुआ। ई० पू० में रचित अति प्राचीन जैन-आगमों जैसे आचारांग आदि में हमें जैन तीर्थस्थलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि उनमें हिन्दू परम्परा के तीर्थस्थलों पर होने वाले महोत्सवों तथा यात्राओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु आध्यात्ममार्गी जैन परम्परा मुनि के लिए इन तीर्थमैलों और यात्राओं में भाग लेने का भी निषेध करती थी।^१ ईसा की प्रथम शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य निर्मित परवर्ती आगमिक साहित्य में भी यद्यपि जैन तीर्थस्थलों और तीर्थयात्राओं के स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलते, फिर भी इनमें तीर्थङ्करो की कल्याणकभूमियों—विशेष रूप से जन्म एवं निर्वाण-स्थलों की चर्चा है।^२ साथ ही तीर्थ-ङ्करो की चिता-भस्म एवं अस्थियों को क्षीरसमुद्रादि में प्रवाहित करने तथा देवलोक में उनके रखे जाने के उल्लेख इन आगमों में हैं। उनमें अस्थियों एवं चिता-भस्म पर चैत्य और स्तूप के निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभ के निर्वाण-स्थल पर स्तूप

१. से भिक्खु वा भिक्खु वा ...थूम महेसु वा, चेतिय महेसु वा तडाग महेसु वा, दहमहेसु वा णई महेसु वा सरमहेसु वा ...णो पडिगाहेज्जा ।

आचारांग २।१।२।२४ (लाडनू)

२. (अ) समवायांग प्रकीर्णक समवाय २२५।१
(ब) आवश्यकनियुक्ति ३८२-८४

बनाने का उल्लेख है।^१ इस काल के आगम ग्रन्थों में हमें देव-लोक एवं नन्दीश्वर द्वीप में निर्मित चैत्य आदि के उल्लेखों के साथ-साथ यह भी वर्णन मिलता है कि पर्व तिथियों में देवता नन्दीश्वरद्वीप जाकर महोत्सव आदि मनाते हैं।^२ यद्यपि इस काल के आगमों में अरिहंतों के स्तूपों एवं चैत्यों के उल्लेख तो हैं किन्तु उन पवित्र स्थलों पर मनुष्यों द्वारा आयोजित होने वाले महोत्सवों और उनकी तीर्थ यात्राओं पर जाने का कोई उल्लेख नहीं है। विद्वानों से मेरी अपेक्षा है कि यदि उन्हें इस तरह का कोई उल्लेख मिले तो वे सूचित करें।

यद्यपि लोहानीपुर और मथुरा में उपलब्ध जिन-मूर्तियों, आयाग-पटों, स्तूपांकनों तथा पूजा के निमित्त कमल लेकर प्रस्थान आदि के अंकनों से यह तो निश्चित हो जाता है कि जैन परम्परा में चैत्यों के निर्माण और जिन-प्रतिमा के पूजन की परम्परा ई० पू० की तीसरी शताब्दी में भी प्रचलित थी। किन्तु तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी उल्लेखों का आचारांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे इस काल के प्राचीन आगमों में अभाव हमारे सामने एक प्रश्न चिह्न तो अवश्य ही उपस्थित करता है।

तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी समस्त उल्लेख नियुक्ति, भाष्य और चूर्णी साहित्य में उपलब्ध होते हैं। आचारांग नियुक्ति में अष्टापद, उर्जयन्त, गजाग्रपद, धर्मचक्र और अहिच्छत्रा को वन्दन किया गया है।^३ इससे स्पष्ट होता है कि नियुक्ति काल में तीर्थस्थलों के दर्शन, वन्दन एवं यात्रा की अवधारणा स्पष्ट रूप से बन चुकी थी और इसे पुण्य-कार्य माना जाता था। निशीथचूर्णी में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थेङ्करों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अर्थात् व्यक्ति की श्रद्धा पुष्ट होती है।^४

१. (अ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २।१११ (लाडनू')

(ब) आवश्यकनियुक्ति ४५

(स) समवायांग ३५।३

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जबुद्वीवपण्णत्ति) २।११४-२२

३. अट्टात्रय उज्जिते गयग्गपए धम्मचक्के य।

पासरहावतनगं चमरुप्पायं च वंदामि

—आचारांगनियुक्ति, पत्र १८

४. निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४

इस प्रकार जैनों में तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों को तीर्थ-रूप में स्वीकार कर उनकी यात्रा के स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम लगभग छठीं शती से मिलने लगते हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी यह परम्परा प्रचलित तो अवश्य ही रही होगी। इस काल में कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त वे स्थल, जो मन्दिर और मूर्तिकला के कारण प्रसिद्ध हो गये थे, उन्हें भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उनकी यात्रा एवं वन्दन को भी बोधिलाभ और निर्जरा का कारण माना गया। निशीथचूर्णी में तीर्थकरों की जन्म कल्याणक आदि भूमियों के अतिरिक्त उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मितस्तूप और कोशल की जीवन्तस्वामी की प्रतिमा को पूज्य बताया गया है।^१ इस प्रकार वे स्थल, जहां कलात्मक एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ अथवा किसी जिन-प्रतिमा को चमत्कारी मान लिया गया, तीर्थ रूप में मान्य हुए। उत्तरापथ, मथुरा और कोशल आदि की तीर्थ रूप में प्रसिद्धि इसी कारण थी। हमारी दृष्टि में सम्भवतः आगे चलकर तीर्थों का जो विभाजन कल्याणकक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र के रूप में हुआ, उसका भी यही कारण था।

तीर्थ क्षेत्र के प्रकार—जैन परम्परा में तीर्थ स्थलों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन वर्गों में किया जाता है—

१. कल्याणकक्षेत्र, २. निर्वाणक्षेत्र और ३. अतिशयक्षेत्र।

१. कल्याणकक्षेत्र—जैन परम्परा में सामान्यतया प्रत्येक तीर्थकर के पांच कल्याणक माने गये हैं। कल्याणक शब्द का तात्पर्य तीर्थकर के जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित पवित्र दिन से है। जैन परम्परा में तीर्थकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा (अभिनिष्क्रमण), कैवल्य (बोधिप्राप्ति) और निर्वाण दिवसों को कल्याणकदिवस के रूप में माना जाता है। तीर्थकर की जीवन की ये महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जिस नगर या स्थल पर घटित होती हैं उसे कल्याणक-भूमि कहा जाता है। हम तीर्थकरों की इन कल्याणक भूमियों का एक संक्षिप्त विवरण निम्नतालिका में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. उत्तरावहे धम्मचक्कं, महुर ए देवणिम्मिय थूभो कोसलाए व जियंतपडिमा, तित्थकराण वा जम्मभूमीओ।

—निशीथचूर्णी भाग ३, पृ ७९

तीर्थंकर	कल्याणक	च्यवन	जन्म	दीक्षा	कैवल्य	निर्वाण
का नाम	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	पुरिमताल (प्रयाग?)	अष्टापद (कैलाश)
ऋषभ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	सम्मेदशिखर
अजित	"	"	"	"	श्रावस्ती	"
सम्भव	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	सहेतुक (अयोध्या)	अयोध्या	"
अभिनन्दन	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	"
सुमति	"	"	"	"	"	"
पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	"
सुपार्श्व	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	"
चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	"
पुष्पदन्त	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	"
शीतल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	"
श्रेयांस	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	"
वासुपुज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा

विमल	काम्पिल्य	काम्पिल्य	काम्पिल्य	काम्पिल्य	सम्मदशिखर
अनन्त	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	"
धर्म	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	"
शान्ति	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	"
कुन्धु	"	"	"	"	"
अर	"	"	"	"	"
मल्लि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	"
मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह	"
नमि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	"
नेमि	शौरीपुर	शौरीपुर	उर्जयन्त	उर्जयन्त	उर्जयन्त
पार्श्व	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	सम्मदशिखर
वर्द्धमान	क्षत्रियकुण्ड	क्षत्रियकुण्ड	क्षत्रियकुण्ड	ऋजुवालिका	पावा

तीर्थङ्करों के कुल कल्याणकक्षेत्र निम्नलिखित हैं—अयोध्या, पुरिमताल, अष्टापद, सम्मदशिखर, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, चन्द्रपुरी, काकन्दी, भद्विलपुर, सिंहपुर, चम्पा, काम्पिल्य, रत्नपुर, हस्तिनापुर, मिथिला, राजगृह, शौरीपुर, उर्जयन्त, क्षत्रियकुण्ड, ऋजुवालिका और पावा ।

२. निर्वाणक्षेत्र

निर्वाणक्षेत्र को सामान्यतया सिद्धक्षेत्र भी कहा जाता है। जिस स्थल से किसी मुनि को निर्वाण प्राप्त होता है, वह स्थल सिद्धक्षेत्र या निर्वाणस्थल के नाम से जाना जाता है। सामान्य मान्यता तो यह है कि इस भूमण्डल पर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ से कोई न कोई मुनि सिद्धि को प्राप्त न हुआ हो। अतः व्यावहारिक दृष्टि से तो समस्त भूमण्डल ही सिद्धक्षेत्र या निर्वाणक्षेत्र है। फिर भी सामान्यतया जहाँ से अनेक सुप्रसिद्ध मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया हो, उसे निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। जैन परम्परा में शत्रुजय, पावागिरि, तुंगीगिरि, सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेशन्दागिरि, सोनागिरि आदि सिद्धक्षेत्र माने जाते हैं। सिद्धक्षेत्रों की विशिष्ट मान्यता तो दिग्म्बर परम्परा में प्रचलित है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में भी शत्रुजयतीर्थ सिद्धक्षेत्र ही है।

३. अतिशय क्षेत्र

वे स्थल, जो न तो किसी तीर्थङ्कर की कल्याणक-भूमि हैं, न किसी मुनि की साधना या निर्वाण-भूमि हैं किन्तु जहाँ की जिन-मूर्तियाँ चमत्कारी हैं अथवा जहाँ के मन्दिर भव्य हैं, वे अतिशय क्षेत्र कहे जाते हैं। आज जैन परम्परा में अधिकांश तीर्थ अतिशयक्षेत्र के रूप में ही माने जाते हैं। उदाहरण के रूप में आबू, राणकपुर, जैसलमेर, श्रवणबेलगोला आदि इसी रूप में प्रसिद्ध हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैनों के कुछ तीर्थ न केवल तीर्थङ्करों की मूर्तियों के चमत्कारिक होने के कारण, अपितु उस तीर्थ के अधिष्ठायक देवों की चमत्कारिता के कारण भी प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के रूप में नाकोड़ा और महुड़ी की प्रसिद्धि उन तीर्थों के अधिष्ठायक देवों के कारण ही हुई है। इसी प्रकार हुम्मच की प्रसिद्धि पार्श्व की यक्षी—पद्मावती की मूर्ति के चमत्कारिक होने के आधार पर ही है।

इन तीन प्रकार के तीर्थों के अतिरिक्त कुछ तीर्थ ऐसे भी हैं जो इस कल्पना पर आधारित हैं कि यहाँ पर किसी समय तीर्थङ्कर का पर्दापण हुआ था या उनकी धर्मसभा (समवसरण) हुई थी। इसके साथ-साथ आज कुछ जैन-आचार्यों के जीवन से सम्बन्धित स्थलों पर गुरु-मंदिरों का निर्माण कर उन्हें भी तीर्थ रूप में माना जाता है।

तीर्थ यात्रा—

जैन परम्परा में तीर्थयात्राओं का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि चूर्णीसाहित्य के पूर्व आगमों में तीर्थ स्थलों की यात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सर्वप्रथम निशीथचूर्णी में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि तीर्थकरों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करता हुआ जीव, दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त करता है।^१ इसी प्रकार व्यवहारभाष्य और व्यवहार चूर्णी में यह उल्लेख है कि जो मुनि अष्टमी और चतुर्दशी को अपने नगर के समस्त चैत्यों और उपाश्रयों में ठहरे हुए मुनियों को वन्दन नहीं करता है तो वह मासलघु प्रायश्चित्त का दोषी होता है।^२

तीर्थयात्रा का उल्लेख महानिशीथसूत्र में भी मिलता है। इस ग्रन्थ का रचना काल विवादास्पद है। हरिभद्र एवं जिनदासगणि द्वारा इसके उद्धार की कथा तो स्वयं ग्रन्थमें ही वर्णित है। नन्दीसूत्रमें आगमों की सूची में महानिशीथ का उल्लेख अनुपलब्ध है। अतः यह स्पष्ट है कि इसका रचना काल छठीं से आठवीं शताब्दी के मध्य ही होगा। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीर्थ यात्राओं को इसी कालावधि में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ होगा।

महानिशीथ में उल्लेख है कि 'हे भगवन् ! यदि आप आज्ञा दें तो हम चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन कर और धर्मचक्र की तीर्थयात्रा कर वापस आये।'^३

१. निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४

२. निस्सकडमनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुई तिन्नि । वेल्ब चेइआणि व नाउं रक्किक्किक्क आववि, 'अट्टमीचउदसी सु'चेइय सव्वाणि साट्टणो सव्वे वन्देयव्वा नियमा अक्सेस — तिहीसु जहसत्ति ॥'

एएसु अट्टमीमादीसु चेइयाइं साट्टणो वा जे अणणाए वसहीए ठिआते न वंदंति मास लहु ॥

व्यवहारचूर्णी—उद्धृत जैनतीर्थोत्तौ, इतिहास भूमिका, पृ० १०

३. जहल्लया गोयमा ते साट्टणो तं आयरियं भणंति जहा—णं जइ भयवं तुमे आणावेहि ताणं अम्हेहि तित्थयत्तं करि (२) या चंदप्पहसामियं वंदि (३) या धम्मचक्कं गंतूणमागच्छामो ॥

—महानिशीथ, उद्धृत, वही, पृ० १०

जिन-यात्रा के सन्दर्भ में हरिभद्र के पंचाशक में विशिष्ट विवरण उपलब्ध होता है। हरिभद्र ने नवें पंचाशक में जिन—यात्रा के विधि विधान का निरूपण किया है किन्तु ग्रन्थ को देखने से ऐसा लगता है कि वस्तुतः यह विवरण दूरस्थ तीर्थों में जाकर यात्रा करनेकी अपेक्षा अपने नगर में ही जिन-प्रतिमा की शोभा—यात्रा से सम्बन्धित है। इसमें यात्रा के कर्तव्यों एवं उद्देश्यों का निर्देश है। उसके अनुसार जिन-यात्रा में जिनधर्म की प्रभावना के हेतु यथाशक्ति दान, तप, शरीर-संस्कार, उचित गीत वादित्र, स्तुति आदि करना चाहिए।^१ तीर्थ यात्राओं में श्वेताम्बर परम्परा में जो छह-री पालक संघ यात्रा की जो प्रवृत्ति प्रचलित है, उसके पूर्व-बीज भी हरिभद्र के इस विवरण में दिखाई देते हैं। आज भी तीर्थयात्रा में इन छह बातों का पालन अच्छा माना जाता है—

१. दिन में एकबार भोजन करना (एकाहारी)
२. भूमिशयन (भू-आधारी)
३. पैदल चलना (पादचारी)
- ४ शुद्ध श्रद्धा रखना (श्रद्धाधारी)
- ५ सर्वसत्त्व का त्याग (सत्त्व परिहारी)
६. ब्रह्मचर्य का पालन (ब्रह्मचारी)

तीर्थों के महत्त्व एवं यात्राओं सम्बन्धी विवरण हमें मुख्य रूप से परवर्ती काल के ग्रन्थों में ही मिलते हैं। सर्वप्रथम 'सारावली' नामक प्रकीर्णक में शत्रुंजय — 'पुण्डरीक तीर्थ' की उत्पत्ति कथा उसका महत्त्व एवं उसकी यात्रा तथा वहां किये गये तप, पूजा, दान आदि के फल विशेष रूप से उल्लिखित हैं।^२

१. श्री पंचाशक प्रकरणम्—हरिभद्रसूरि जिनयात्रा पंचाशक पृ० २४८-६३
अभयदेव सूरि की टीका सहित-प्रकाशक-ऋषभदेव केशरीमल श्वे,
संस्था, रतलाम)
२. पङ्णयमुत्ताइ—सारावली पङ्णयं पृ० ३५०-६०
सम्पादक—मुनिपुण्यविजयजी, प्रकाशक श्री महावीर विद्यालय
बम्बई ४०००३६

इसके अतिरिक्त विविधतीर्थ-कल्प (१३वीं शती) और तीर्थ मालायें भी जो कि १२वीं-१३वीं शताब्दी से लेकर परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से रची गयीं; तीर्थों की महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। जैन साहित्य में तीर्थयात्रा संघों के निकाले जाने सम्बन्धी विवरण भी १३वीं शती के पश्चात् रचित अनेक तीर्थमालाओं एवं अभिलेखों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जिनकी चर्चा आगे की गयी है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य न केवल धर्म साधना है, बल्कि इसका व्यावहारिक उद्देश्य भी है, जिसका संकेत निशीथचूर्णी में मिलता है। उसमें कहा गया है कि जो एक ग्राम का निवासी हो जाता है और अन्य ग्राम-नगरों को नहीं देखता वह कूपमंडूक होता है। इसके विपरीत जो भ्रमणशील होता है वह अनेक प्रकार के ग्राम-नगर, सन्निवेश, जनपद, राजधानी आदि में विचरण कर व्यवहार-कुशल हो जाता है तथा नदी, गुहा, तालाब, पर्वत आदि को देखकर चक्षु सुख को भी प्राप्त करता है। साथ ही तीर्थकरों के कल्याणकभूमियों को देखकर दर्शन विशुद्धि भी प्राप्त करता है। पुनः अन्य साधुओं के समागम का भी लाभ लेता है और उनके समाचारी से भी परिचित हो जाता है। परस्पर दानादि द्वारा विविध प्रकार के घृत, दधि, गुड़, क्षीर आदि नाना व्यंजनों का रस भी ले लेता है।^१

निशीथचूर्णी के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार्य तीर्थयात्रा की आध्यात्मिक मूल्यवत्ता के साथ-साथ उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी स्वीकारते थे।

१ अहाव—तस्स भावं णाऊण भणेज्जा—‘एो वत्थव्वो एगगामणिवासी कूवमंडुक्को इव ण गामणगरादी पेच्छति । अम्हे पुण अणियतवासी, तुमं वि अम्हेहिं समानं हिडंतो णाणाविध-गाम-णगरागर सन्निवेश-रायहाणि जाणवदे य पेच्छंतो अभिधानकुसलो भविस्ससि, तथा सर-वावि-वप्पिणि-णदि-कूव-तडाग-काणणुज्जाण कंदर-दरि-कुहर-पव्वतं य णाणाविह-खखसोभिए पेच्छंतो चवखुमुहं पाविहिसि, तित्थकरण य तिलोगपुइयाण जम्मण-णिकखण-विहार—केवलुप्पाद-निव्वाणभूमीओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धि काहिसि’ तथा अण्णोण्णसाहुसमागमेण य सामायारि-कुसलो भविस्ससि, सव्वापुव्वे य चेइए वंदंतो बोहिलाभं तिज्जित्तेहिसि, अण्णोण्ण सुय-दाणाभिगमसड्ढेसु संजमाविस्सुद्धं विविध-वंजणोववेयमण्यं धय-गुल-दधि-क्षीरमादियं च विगतिवरिभोगं पाविहिसि’ ॥२७१६॥

—निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४, प्रकाशक-सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

तीर्थविषयक श्वेताम्बर जैन साहित्य

तीर्थविषयक साहित्य में कुछ कल्याणक भूमियों के उल्लेख समवायांग, ज्ञाता और पर्युषणाकल्प में हैं। कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थक्षेत्रों के जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले महानिशीथ और निशीथचूर्णी में हमें मथुरा, उत्तरापथ और चम्पा के उल्लेख मिलते हैं। निशीथचूर्णि, व्यवहारभाष्य, व्यवहारचूर्णि आदिमें भी नामोल्लेख के अतिरिक्त इन तीर्थों के सन्दर्भ में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती; मात्र यह बताया गया है कि मथुरा स्तूपों के लिए, उत्तरापथ धर्मचक्र के लिये और चम्पा जीवन्तस्वामी की प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध थे। तीर्थ सम्बन्धी विशिष्ट साहित्य में तित्थोगालिय प्रकीर्णक, सारावली प्रकीर्णक के नाम महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं किन्तु तित्थोगालिय प्रकीर्णक में तीर्थस्थलों का विवरण न होकर के साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूपचतुर्विध तीर्थ की विभिन्न कालों में विभिन्न तीर्थकरों द्वारा जो स्थापना की गई, उसके उल्लेख मिलते हैं, उसमें जैनसंघरूपी तीर्थ के भूत और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उसमें महावीर के निर्वाण के बाद आगमों का विच्छेद किस प्रकार से होगा? कौन-कौन प्रमुख आचार्य और राजा आदि होंगे, इसके उल्लेख हैं। इस प्रकीर्णक में श्वेताम्बर परम्परा को अमान्य ऐसे आगम आदि के उच्छेद के उल्लेख भी हैं। यह प्रकीर्णक मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत में उपलब्ध होता है, किन्तु इस पर शौरसेनी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसका रचनाकाल निश्चित करना तो कठिन है। फिर भी यह लगभग दसवीं शताब्दी के पूर्व का होना चाहिए, ऐसा अनुमान किया जाता है।

तीर्थ सम्बन्धी विस्तृत विवरण की दृष्टि से आगमिक और प्राकृत भाषा के ग्रन्थों में 'सारावली' को मुख्य माना जा सकता है। इसमें मुख्यरूप से शत्रुंजय अपरनाम पुण्डरीक तीर्थ की उत्पत्ति-कथा दी गई है। इस प्रकीर्णक में शत्रुंजय तीर्थ का निर्माण कैसे हुआ और उसका पुण्डरीक नाम कैसे पड़ा? ये दो बातें मुख्य रूप से विवेचित हैं और इस सम्बन्ध में कथा भी दी गई है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग ११६ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में लिखा

गया है, किन्तु भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव को देखते हुए इसे परवर्ती ही माना जायेगा। इसका काल दसवीं शताब्दी के लगभग होगा।

इस प्रकीर्णक में इस तीर्थ पर दान, तप, साधना आदि के विशेष-फल की चर्चा हुई है। ग्रन्थ के अनुसार पुण्डरीक तीर्थ की महिमा और कथा अतिमुक्त नामक ऋषि ने नारद को सुनायी, जिसे सुनकर उसने दीक्षित होकर केवल ज्ञान और सिद्धि को प्राप्त किया। कथानुसार ऋषभदेव के पौत्र पुण्डरीक के निर्वाण के कारण यह तीर्थ पुण्डरीक गिरि के नाम से प्रचलित हुआ। इस तीर्थ पर नमि, विनमि आदि दो करोड़ केवली सिद्ध हुए हैं। राम, भरत आदि तथा पंचपाण्डवों एवं प्रद्युम्न, शाम्ब आदि कृष्ण के पुत्रों के इसी पर्वत से सिद्ध होने की कथा भी प्रचलित है। इस प्रकार यह प्रकीर्णक पश्चिम भारत के सर्वविश्रुत जैन तीर्थ की महिमा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। श्वेताम्बर परंपरा के प्राचीन आगमिक साहित्य में इसके अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थ सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना हमारी जानकारी में नहीं है।

इसके पश्चात् तीर्थ सम्बन्धी साहित्य में प्राचीनतम जो रचना उपलब्ध होती है, वह बप्पभट्टिसूरि की परम्परा के यशोदेवसूरि के गच्छ के सिद्धसेनसूरि का सकलतीर्थस्तोत्र है। यह रचना ई० सन् १०६७ अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इस रचना में सम्मत्तशिखर, शत्रुञ्जय, उर्जयन्त, अबुद, चित्तौड़, जालपुर (जालौर) रणथम्भौर, गोंपालगिरि (ग्वालियर) मथुरा, राजगृह, चम्पा, पावा, अयोध्या, काम्पिल्य, भद्विलपुर, शौरीपुर, अंगइया (अंगदिका), कन्नौज, श्रावस्ती, वाराणसी, राजपुर, कुण्डनी, गजपुर, तलवाड़, देवराउ, खंडिल, डिण्डूवान (डिण्डवाना), नरान, हर्षपुर (षट्टउदेसे), नागपुर (नागौर—साम्भरदेश), पल्ली, सण्डेर, नाणक, कोरण्ट, भिन्नमाल, (गुर्जर देश), आहड़ (मेवाड़ देश) उपकेसनगर (किराडउए) जयपुर (मरुदेश) सत्यपुर (साचौर), गुहुयराय, पश्चिम वल्ली, थारा-प्रद, वायण, जलिहर, नगर, खेड़, मोढेर, अनहिल्लवाड़ (चड्ढावत्लि), स्तम्भनपुर, कयंवास, भरुकच्छ (सौराष्ट्र), कुंकन, कलिकुण्ड, मानखेड़, (दक्षिण भारत) धारा, उज्जैनी (मालवा) आदि तीर्थों का उल्लेख है।

सम्भवतः समग्र जैन तीर्थों का नामोल्लेख करने वाली उपलब्ध रचनाओं में यह प्राचीनतम रचना है ।^१ यद्यपि इसमें दक्षिण के उन दिगम्बर जैन तीर्थों के उल्लेख नहीं है । जो कि इस काल में अस्तित्व-वान् थे । इस रचना के पश्चात् हमारे सामने तीर्थ सम्बन्धी विवरण देने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत रचना विविधतीर्थकल्प है, इस ग्रन्थ में दक्षिण के कुछ दिगम्बर तीर्थों को छोड़कर पूर्व, उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत के लगभग सभी तीर्थों का विस्तृत एवं व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है, यह ई०सन् १३३२ की रचना है । श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थ सम्बन्धी रचनाओं में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है । इसमें जो वर्णन उपलब्ध है, उससे ऐसा लगता है कि अधिकांश तीर्थस्थलों का उल्लेख कवि ने स्वयं देखकर किया है । यह कृति अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत और संस्कृत में निर्मित है । इसमें जिन तीर्थों का उल्लेख है वे निम्न हैं—शत्रुजय, रवतक गिरि, स्तम्भनकतीर्थ, अहिच्छत्रा, अर्बुद (आबू), अश्वावबोध (भड़ौच), वैमारगिरि (राजगिरि), कौशाम्बी, अयोध्या, आपापा (पावा), कलिकुण्ड, हस्तिनापुर, सत्यपुर (साचौर), अष्टापद (कैलाश), मिथिला, रत्नवाहपुर, प्रतिष्ठानपत्तन, (पैठन), काम्पल्य, अणहिलपुर पाटन, शंखपुर, नासिक्यपुर (नासिक), हरिकंखीनगर, अवन्तिदेशस्थ अभिनन्दनदेव, चम्पा, पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, वाराणसी, कोटिशिला, कोकावसति, ढिपुरी, हस्तिनापुर, अंतरिक्षपाशर्वनाथ, फलवर्द्धिपाशर्वनाथ (फलौधी), आमरकुण्ड (हनमकोण्ड-आंध्रप्रदेश) आदि ।

१. सम्मेयसेल-सेत्तुञ्ज-उज्जिते अब्बुयमि चित्तउडे ।
 जालउरे रणथंभे गोपालगिरिमि वंदामि ॥१९॥
 सिरिपासनाहसहियं रम्मं सिरिनिम्मयं महाथूभं ।
 कलिकाले वि सुयित्थं महुरानयरीउ (ए) वंदामि ॥२०॥
 रायगिह-चम्प-पावा-अउज्झ-कंपिल्लट्टणपुरेसु ।
 भदिलपुरि-त्रोरीयपुरि-अङ्गइया-कन्नउज्जेसु ॥२१॥
 सावत्थि-डुग्गमाइसु वाणारसीयमुहपुव्वदेसंमि ।
 कम्मग-सिरोहमाइसु भयाणदेसंमि वंदामि ॥२२॥
 राजउर-कुण्डणीसु य वंदे गज्जउर पंच य सयाइं ।
 तलवाड देवराउ रुउत्तदेसंमि वंदामि ॥२३॥

इन ग्रंथों के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में अनेक तीर्थमालायें एवं चैत्यपरिपाटियाँ लिखी गईं जो कि तीर्थ सम्बन्धी साहित्य की महत्त्वपूर्ण अंग हैं । ये अधिकांशतः परवर्ती अपभ्रंश एवं प्राचीन मरु-गुर्जर में लिखी गई हैं । इन तीर्थमालाओं और चैत्यपरिपाटियों की संख्या शताधिक है और ये ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी तक निर्मित होती रही हैं । इन तीर्थमालाओं तथा चैत्यपरिपाटियों में कुछ तो ऐसी हैं जो किसी तीर्थ विशिष्ट से ही सम्बन्धित हैं और कुछ ऐसी हैं जो सभी तीर्थों का उल्लेख करती हैं । ऐतिहासिक दृष्टि से इन चैत्यपरिपाटियों का अपना महत्त्व है, क्योंकि ये अपने-अपने काल में जैन तीर्थों की स्थिति का सम्यग् विवरण प्रस्तुत कर देती हैं । इन चैत्यपरिपाटियों में न केवल तीर्थक्षेत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, अपितु वहाँ किस-किस मन्दिर में कितनी पाषाण और धातु की जिन प्रतिमाएँ

खंडिल-डिडूआणय नराण-हरसउर खट्टऊदेसे ।

नागउरमुविदंतिसु संभरिदेसंमि वंदेमि ॥२४॥

पल्ली संडेरय-नाणएसु कोरिट-भिन्नमालेलेसु ।

वंदे गुज्जरदेसे आहाडाईसु मेवाडे ॥२५॥

उअएस-किराडएसु वि जयपुराईसु मरुमि वंदामि ।

सच्चउर-गुडुरायसु पच्छिमदेसंमि वंदामि ॥२६॥

थाराउद्वय-वायड-जालीहर-नगर-खेड-मोढेरे ।

अणहिल्लवाडनयरे वडुवावल्लीयं वंभाणे ॥२७॥

निहयकलिकालमहियं सायसतं सयलवाइयंभणए ।

थंभणपुरे कयवासं पासं वंदामि भत्तीए ॥२८॥

कच्छे भरुयच्छंमि य सोरट्ट-मरहट्ट-कुंकण-यलीसु ।

कलिकुण्ड-माणखेडे दक्षि (क्खि) णदेसंमि वंदामि ॥२९॥

धारा-उज्जेणीसु य मालवदेसंमि वंदामि ।

वंदामि मणुयविहिऐ जिणभवणे सब्बदेसेसु ॥३०॥

भरहिय (म्मि) मणुयविहिया महिया मोहारिमहियमाहप्पा ।

सिरिसिद्धसेणसूरीहि संश्रुया सिवसुहं देतु ॥३२॥

—Discriptive Catalogue of Mss in the Jaina Bhandars at Pattan—G.O.S. 73, Baroda 1937
p. 56

रखी गयी हैं, इसका भी विवरण उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण के रूप में कटुकमति लाधाशाह द्वारा विरचित सूरतचैत्यपरिपाटीमें यह बताया गया है कि इस नगर के गोपीपुरा क्षेत्र में कुल ७५ जिनमंदिर, ५ विशाल जिन मंदिर तथा १३२५ जिनबिम्ब थे। सम्पूर्ण सूरत नगर में १० विशाल जिनमंदिर, २३५ देरासर (गृहचैत्य) ३गर्भगृह, ३९७८ जिन प्रतिमाएँ थीं। इसके अतिरिक्त सिद्धचक्र कमलचौमुख, पंचतीर्थी, चौबीसी आदि को मिलाने पर १००४१ जिनप्रतिमाएँ उस नगर में थीं, ऐसा उल्लेख है। यह विवरण १७९३ का है। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि इन रचनाओं का ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से कितना महत्त्व है। सम्पूर्ण चैत्यपरिपाटियों अथवा तीर्थमालाओं का उल्लेख अपने आप में एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। अतः हम उन सबकी चर्चा न करके मात्र उनकी एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुत कर रहे हैं—

रचना	रचनाकार	रचनातिथि
सकलतीर्थस्तोत्र	सिद्धसेनसूरि	वि०सं० ११२३
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	महेन्द्रसूरि	वि०सं० १२४१
कल्पप्रदीप अपरनाम		
विविधतीर्थकल्प	जिनप्रभसूरि	वि०सं० १३८९
तीर्थयात्रास्तवन	विनयप्रभ उपाध्याय	वि०सं० १४ वीं शती
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	मुनिप्रभसूरि	वि०सं० १५ वीं शती
तीर्थमाला	मेघकृत	वि०सं० १६ वीं शती
पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी	हंससोम	वि०सं० १५६५
सम्मेतशिखर तीर्थमाला	विजयसागर	वि०सं० १७१७
श्री पार्श्वनाथ नाममाला	मेघविजय उपाध्याय	वि०सं० १७२१
तीर्थमाला	शीलविजय	वि०सं० १७४८
तीर्थमाला	सौभाग्य विजय	वि०सं० १७५०
शत्रुञ्जयतीर्थपरिपाटी	देवचन्द्र	वि०सं० १७६९
सूरतचैत्यपरिपाटी	घालासाह	वि०सं० १७९३
तीर्थमाला	ज्ञानविमलसूरि	वि०सं० १७९५
सम्मेतशिखरतीर्थमाला	जयविजय	—
गिरनार तीर्थ	रत्नसिंहसूरिशिष्य	—
चैत्यपरिपाटी	मुनिमहिमा	—

पार्श्वनाथ चैत्यपरिपाटी	कल्याणसागर	—
शास्वततीर्थमाला	वाचनाचार्य मेरुकीर्ति	—
जैसलमेरचैत्यपरिपाटी	जिनसुखसूरि	—
शत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटी	—	—
शत्रुञ्जयतीर्थयात्रारास	विनीत कुशल	—
आदिनाथ रास	कविलावण्यसमय	—
पार्श्वनाथसंख्यास्तवन	रत्नकुशल	—
कावीतीर्थवर्णन	कविदीप विजय	वि०सं १८८६
तीर्थराजचैत्यपरिपाटीस्तवन	साधुचन्द्रसूरि	—
पूर्वदेशत्रैत्यपरिपाटी	जिनवर्धनसूरि	—
मंडसांचलचैत्यपरिपाटी	खेमराज	—

यह सूची 'प्राचीनतीर्थमालासंग्रह' सम्पादक - विजयधर्मसूरिजी के आधार पर दी गई है।

दिगम्बर परम्परा का तीर्थविषयक साहित्य

दिगम्बर परम्परा में प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवतीआराधना एवं मूलाचार हैं। किन्तु इनमें तीर्थ शब्द का तात्पर्य धर्मतीर्थ या चतुर्विधसंघ रूपी तीर्थ से ही है। दिगम्बर परम्परा में तीर्थक्षेत्रों का वर्णन करने वाले ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ती को प्राचीनतम माना जा सकता है। तिलोयपण्णत्ती में मुख्य रूप से तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें क्षेत्रमंगल की चर्चा करते हुए पावा, उर्जयंत और चम्पा के नामों का उल्लेख किया गया है।^१ इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती में राजगृह का पंचशीलनगर के रूप में उल्लेख हुआ है और उसमें पांचों शैलों का यथार्थ और विस्तृत विवेचन भी है। समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र में उर्जयंत का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। दिगम्बर परम्परा में इसके पश्चात् तीर्थों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों के रूप में दशभक्तिपाठ प्रसिद्ध हैं। इनमें संस्कृतनिर्वाणभक्ति और प्राकृतनिर्वाणकाण्ड महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यतया संस्कृतनिर्वाणभक्ति के कर्ता "पूज्यपाद" और प्राकृतभक्तियों के कर्ता "कुंदकुंद" को माना

जाता है। पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने इन निर्वाणभक्तियों के सम्बन्ध में इतना ही कहा है 'कि जब तक इन दोनों रचनाओं के रचयिता का नाम मालूम न हो तब तक इतना ही कहा जा सकता है कि ये निश्चय ही आशाधर से पहले की (अब से लगभग ७०० वर्ष पहले की हैं) प्राकृत भक्ति में नर्मदा नदी के तट पर स्थित सिद्धवरकूट, बड़वानी नगर के दक्षिण भाग में चूलगिरि तथा पावागिरि आदि का उल्लेख किया गया है किन्तु ये सभी तीर्थक्षेत्र पुरातात्विक दृष्टि से नवीं-दसवीं के पूर्व के सिद्ध नहीं होते। इसलिए इन भक्तियों का रचनाकाल और इन्हें जिन आचार्यों से सम्बन्धित किया जाता है वह संदिग्ध बन जाता है। निर्वाणकाण्ड में अष्टापद, चम्पा, उर्जयंत, पावा, सम्मेदगिरि, गजपंथ, तारापुर, पावागिरि, शत्रुञ्जय, तुंगीगिरि, सवनगिरि, सिद्धवरकूट, चुलगिरि, बड़वानी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुंथुगिरि, कोटशिला, रिसिदगिरि, नागद्रह मंगलपुर, आशारम्य, पोदनपुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्रा, जम्बूवन, अर्गलदेश, णिवडकुंडली, सिरपुर होलगिरि, गोम्मटदेव आदि तीर्थों के उल्लेख हैं। इस निर्माणभक्ति में आये हुए चूलगिरि, पावागिरि, गोम्मटदेव, सिरपुर आदि के उल्लेख ऐसे हैं, जो इस कृति को पर्याप्त परवर्ती सिद्ध कर देते हैं। गोम्मटदेव (श्रवणबेलगोला) की बाहुबली की मूर्ति का निर्माण ई० स० ९८३ में हुआ। अतः यह कृति उसके पूर्व की नहीं मानी जा सकती और इसके कर्ता भी कुंदकुंद नहीं माने जा सकते।

पाँचवीं से दशवीं शताब्दी के बीच हुए अन्य दिग्म्बर आचार्यों की कृतियों में कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद का क्रम आता है। पूज्यपाद ने निर्वाणभक्ति में निम्न स्थलों का उल्लेख किया है—

कुण्डपुर, जृम्भिकाग्राम, वैभारपर्वत, पावानगर, कैलाशपर्वत, उर्जयंत, पावापुर, सम्मेदपर्वत, शत्रुञ्जयपर्वत, द्रोणीमत, सहाचल आदि।

रविषेण ने 'पद्मचरित' में निम्न तीर्थस्थलों की चर्चा की है—
कैलाश पर्वत, सम्मेदपर्वत, वंशगिरि, मेघरव, अयोध्या, काम्पिल्य, रत्नपुर, श्रावस्ती, चम्पा, काकन्दी, कौशाम्बी, चन्द्रपुरी, भद्रिका, मिथिला, वाराणसी, सिंहपुर, हस्तिनापुर, राजगृह, निर्वाणगिरि आदि।

दिगम्बर परम्परा के तीर्थ सम्बन्धी शेष प्रमुख तीर्थवन्दनाओं की सूची इस प्रकार है—

रचना	रचनाकार	समय
शासनचतुस्त्रिका	मदनकीर्ति	१२वीं-१३वीं शती
निर्वाणकाण्ड	—	”
तीर्थवन्दना	—	”
जीरावला पार्श्वनाथस्तवन	उदयकीर्ति	”
पार्श्वनाथस्तोत्र	पद्मनन्दि	१४वीं शती
माणिक्यस्वामीविनति	श्रुतसागर	१५वीं शती
मांगीतुंगीगीत	अभयचन्द्र	”
तीर्थवन्दना	गुणकीर्ति	”
तीर्थवन्दना	मेघराज	१६वीं शती
जम्बूद्वीपजयमाला, तीर्थजयमाला	सुमतिसागर	”
जम्बूस्वामिचरित	राजमल्ल	”
सर्वतीर्थ वन्दना	ज्ञानसागर	१६वीं-१७वीं शती
श्रीपुरपार्श्वनाथविनती	लक्ष्मण	१७वीं शती
पुष्पाञ्जलिजयमाला	सोमसेन	”
तीर्थजयमाला	जयसागर	”
तीर्थवन्दना	चिमणा पंडित	”
	जिनसेन	”
सर्वत्रैलोक्यजिनालय जयमाला	विश्वभूषण	१७वीं शती
बलिभद्र अष्टक	मेरुचन्द्र	”
बलिभद्र अष्टक	गंगादास	”
मुक्तागिरि जयमाला	धनजी	”
रामटेक छंद	मकरंद	१७वीं-१८वीं शती
पद्मावती स्तोत्र	तोपकरि	१८वीं शती
षट्तीर्थ वन्दना	देवेन्द्रकीर्ति	”
	जिनसागर	”
मुक्तागिरि आरती	राघव	१८वीं-१९वीं शती
अकृत्रिम चैत्यालयजयमाला	पं०दिलमुख	१९वीं शती
पार्श्वनाथ जयमाला	ब्रह्म हर्ष	”
तीर्थवन्दना	कवीन्द्रसेवक	”

नोट :—उक्त तालिका डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा संपादित तीर्थवन्दनसंग्रह के आधार पर प्रस्तुत की गयी है ।

आधुनिक काल के जैन तीर्थ-विषयक ग्रन्थ

- १—जैन तीर्थोत्तम इतिहास (गुजराती) मुनि श्री न्यायविजय जी
—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १९४९ ई०
- २—जैनतीर्थसर्वसंग्रह भाग-१, (खण्ड १-२), भाग-२ पं० अम्बालाल
पी० शाह, आनन्दजी कल्याणजी की पेढी, झवेरीवाड़,
अहमदाबाद से प्रकाशित
- ३—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी-५
- ४—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, १, २, ३, ४, ५, (सचित्र)
—श्री बलभद्र जैन
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी बम्बई
- ५—तीर्थदर्शन, भाग १ एवं २
प्रकाशक—श्री महावीर जैन कल्याण संघ, मद्रास ६००००७
इसके अतिरिक्त पृथक् पृथक् तीर्थों पर भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी
उपलब्ध हैं ।

प्रो० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

जैन संस्कृति और श्रमण परम्परा

— डा० शान्ताराम भालचन्द्र देव

भारत में जैन धर्म श्रमण परंपरा का एक प्रभावशाली अंग रहा है, यह तथ्य अब समुचित मान्यता प्राप्त कर चुका है। यह भी सभी दृष्टियों से स्वीकृत हो चुका है कि जैन धर्म का आरंभ और अस्तित्व स्वतंत्र है और वह बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है। जैन साहित्य और परंपरा के निरंतर और गम्भीर अध्ययन से यह मान्यता और भी अधिक पुष्ट हुई है।

तथापि, इन तथ्यों की अधिकतम समीक्षा आवश्यक है कि जैन धर्म का प्राचीन साधु-वर्ग अर्थात् श्रमणशील संप्रदाय से वस्तुतः क्या संबंध था और प्राचीन भारत की मौलिक श्रमण परंपरा के प्रति जैन धर्म वास्तव में समर्पित रहा भी है या नहीं? कारण यह है कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म के अतिरिक्त श्रमणशील साधुओं के अन्य वर्गों का वैदिक साहित्य में उल्लेख मिलता है, जिनकी प्राचीनता जैन और बौद्ध मतों के ग्रंथों से भी अधिक है।

ऐतिहासिक परिवेश की दृष्टि से, हमें उस दृष्टिकोण को गंभीरता से लेना आवश्यक नहीं है, जो जैन धर्म की प्राचीनता के संदर्भ में परंपरावादियों द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक दृष्टि से वह विश्वास के परे है। शुब्रिग का कथन सटीक है कि पार्श्वनाथ से पूर्व का संपूर्ण वृत्तान्त अनुश्रुति की धुन्ध में समाहित हो गया लगता है। परंपरावादी दृष्टिकोण से प्रथम तीर्थङ्कर का जो समय माना जाता है वह वास्तविक अंकों में लिखा ही नहीं जा सकता। तथापि, तेईसवें और चौबीसवें तीर्थंकरों की ऐतिहासिकता क्रमशः आठवीं शती ई० पू० और छठी शती ई० पू० में निर्धारित की जा सकती है।

इस युग का भारत के धार्मिक और सामाजिक इतिहास में व्यापक महत्त्व है, क्योंकि यह ऐसी कालावधि है जिसमें बौद्धिक ऊहापोह का

ऋषभदेव प्रतिष्ठान द्वारा आयोजित 'भारतीय साहित्य में श्रमण परम्परा' नामक संगोष्ठी में पठित लेख।

उदय हुआ एवं जिसने भारत के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्रों में सुस्थापित परंपराओं की आधार-शिलाओं को ही हिलाकर रख दिया। यह वही युग है जब वैदिक धर्म के सुस्थापित दृष्टिकोणों और कर्मकांडों का उपनिषदों के माध्यम से विश्लेषण का साहस दिखाया गया। साथ ही, यह वही युग है जब श्रमणों ने अपने आपको कदाचित् इस प्रकार संघ-बद्ध किया कि उससे बौद्ध धर्म और जैन धर्म का उदय हुआ।

तथापि, अनेक विद्वानों के अनुसार, यह मानना ही होगा कि श्रमण धर्म की पूर्वावधि इस युग से बहुत अधिक प्राचीन युग में पायी जा सकती है, जिसमें बौद्ध धर्म और जैन धर्म के रूप में संघ-बद्ध श्रमण परंपरा पुष्पित और पल्लवित हुई। प्रस्तुत विचार-विमर्श के विषय होंगे—श्रमण परंपरा की प्राचीनता, उसकी विशेषताओं की परिभाषा, और जैन धर्म के सिद्धांतों तथा कर्मकांडों का इस दृष्टि से विश्लेषण। जिससे यह ज्ञात हो सके कि शताब्दियों से विकसित होती-होती आज के प्रचलित रूप में जैन संस्कृति प्राचीन श्रमण परंपरा के प्रति समर्पित रही भी है या नहीं।

जैसा कि स्पष्ट किया गया है, भारत में ऐसे श्रमणशील साधुओं की प्राचीन परंपरा रही है जो निःस्पृह, अपरिग्रही और ब्रह्मचारी होते थे। इस जीवन-पद्धति का अनुसरण करने वाले साधुओं के वैदिक साहित्य में विभिन्न प्रकार से उल्लेख हुए हैं। कुछ विद्वान् तो यह भी मानते हैं कि योग संप्रदाय सिंधुघाटी की सभ्यता के समय में भी था, उनकी मान्यता का आधार है बह मुद्रा जिसपर पशुपति या महायोगी के रूप में शिव का मूर्त्यङ्कन है, वे यह भी कहते हैं कि उक्त श्रमण या श्रमण मार्ग या योग-संस्था आर्यों से भी पूर्व की हो सकती है। तथापि, यह तो मानना ही पड़ेगा कि ऋग्वेद (१०.१३५.२) में मुनियों के स्पष्ट उल्लेख हैं जिनमें से एक है: 'मुनयो वात-रशनाः पिषङ्गा वसते मला'। इस उद्धरण के संदर्भ में, दो बिंदुओं पर ध्यान दिया जाए—प्रथम यह कि वे वात-रशनः' थे अर्थात् वायु उनकी मेखला थी जिसका स्पष्ट अर्थ हुआ कि वे नग्न थे। इस संदर्भ में यह ध्यातव्य है कि 'वात-रशना' शब्द के प्रस्तुत अर्थ पर सायण आदि विद्वान् एकमत नहीं हैं। कारण, कहा जाता है कि ये मुनि पीले और मलिन वस्त्र पहनते थे। इस बिन्दु पर अधिक समय न देकर हमें इतना ही कहना

है कि ऋग्वेद के समय में भी एक ऐसा संप्रदाय था जो सांसारिक उद्देश्यों और आकांक्षाओं से निःस्पृह जीवन व्यतीत करता था और वैदिक समाज के परिचायक पारंपरिक क्रियाकांड का अनुकरण नहीं करता था। कीथ का कथन तर्कसंगत है — 'वैदिक काल में मुनि-वर्ग को पुरोहित-वर्ग मान्यता नहीं देता था, पुरोहित-वर्ग क्रियाकांड का अनुसरण करता था और उसके विचार मुनि-वर्ग के आदर्शों से नितांत भिन्न थे, जो संतान और दक्षिणा आदि सांसारिक आकांक्षाओं से परे थे।'^१

'श्रमण' शब्द से ऐसे जीवन का संकेत मिलता है जो सुविधाभोगी नहीं, प्रत्युत 'श्रम' से अनुप्राणित होता है। इससे स्पष्ट है कि श्रमण वे लोग थे जिनके जीवन में परिव्रजन, तपश्चरण और सांसारिक सुखों के प्रति विरक्ति होती थी। सभी वर्गों और मतों के अन्तर्गत भारतीय साधु-मार्ग में जन्म-मरण की अनंत शृङ्खला से मुक्ति का उद्देश्य सदा सर्वोपरि रहा है। सांसारिक जीवन की क्षण-भंगुरता को भी साधु-मार्ग बाधक मानता है। अतएव श्रमणों तथा अन्य सभी वर्गों के साधुओं का ऐसी अवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न रहा जिसमें जन्म मरण के चक्र से मुक्ति निश्चित हो। अतएव, कुछ विद्वानों के अनुसार, ऋग्वेद में उल्लिखित 'वात-रशन' मुनि 'श्रमण परंपरा के प्राचीनतम प्रतिरूप थे, जो कालांतर में विविध वैदिकेतर रूप लेते हुए बौद्ध और जैन धर्मों के रूप में भी दृष्टिगत हुए।^२ हरदत्त शर्मा इससे भी आगे बढ़कर लिखते हैं^३ कि आरण्यक-साहित्य की रचना के समय तक जिन्होंने 'श्रमण' नाम धारण कर लिया वे ऋग्वेदोक्त 'वात-रशन'

१. कीथ, ए.—'द रिलीजन एण्ड फिँसफी ऑफ दि वेद एण्ड उवनिषद्स' (भारतीय पुनर्मुद्रण, १९७६), पृ० ४०२

२. मिश्र, वाई० के०, 'असेटिसिज्म इन ऐंशंट इण्डिया' (वैशाली, १९८७), पृ० ५१

३. द्रष्टव्य, मिश्र वाई० के० 'कन्ट्रीब्यूशन्स टू दि थ्योरी ऑफ ब्राह्मणिकल असेटिसिज्म' (पूना १९३९)

देव, एम० बी० 'हिस्ट्री ऑफ जैन मॉनेस्टिसिज्म फ्रॉम इन्स्क्रिप्शन्स एण्ड लिटरेचर' (पूना, १९५६),

परिनिष्ठित वैदिक धर्म के प्राचीनतम परित्राजक थे, और उनके अनुयायी थे वैदिक ऋषि, जिनमें से अनेक गृहस्थ थे और सांसारिक आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ करके देव-देवियों को प्रसन्न करते थे ।

इससे प्रतीत होता है कि वैदिक युग में भी प्रायः भिन्न प्रकार की दो स्वतंत्र जीवन-शैलियाँ प्रचलित थीं^१ । एक वह, जो सांसारिक उपलब्धियों के प्रचुर क्रियाकांड में लिप्त थी और दूसरी वह जो सांसारिक उपलब्धियों से परे किसी अवक्तव्य के अन्वेषण में मग्न थी । स्पष्ट है कि दूसरी जीवन-शैली बौद्धिक और आध्यात्मिक मार्ग की पक्षधर थी जिसमें स्थापित जीवन-मूल्यों की चुनौती का भाव था और बहु-जन-सम्मत या शिष्ट-जन-सम्मत जीवन से सर्वथा भिन्न जीवन के माध्यम से उत्तरों की गवेषणा का प्रयास था । वैदिक धर्म में, अधिकतर, भौतिक दृष्टि से समृद्ध जीवन अभीष्ट था, जबकि श्रमण-वर्ग का उद्देश्य था—पूर्णतया आध्यात्मिक उपलब्धि । विंटरनित्ज^२ ने इन दो विचारधाराओं को क्रमशः ब्राह्मण धर्म और श्रमण धर्म की संज्ञाएं दी हैं ।

पारंपरिक विचारधारा के प्रतिरोध में मुखर स्वतंत्र चिंतन का साहस हुआ था—उपनिषदों में, जिनकी रचना के प्रत्यक्षदर्शी भी थे और स्वतंत्र सहयोगी भी श्रमण परंपरा के दोनों प्रतिरूप, अर्थात् बौद्ध धर्म और जैन धर्म । कुछ विद्वान् चतुर्थ आश्रम, संन्यासाश्रम, और श्रमण परंपरा की समानताओं पर बल देते हैं, किन्तु यह समुचित नहीं है । द्रष्टव्य है कि चतुर्विध जीवन-शैली में संन्यासाश्रम एक चरण था, जिसका श्रमण परंपरा में होना आवश्यक नहीं था । श्रमण परंपरा के अनुसार श्रमणशील साधु-जीवन में प्रवेश के लिए आश्रम-व्यवस्था के प्रथम तीन चरणों में प्रवेश अनावश्यक था । यहां तक कि वैदिक

१. द्रष्टव्य, चक्रवर्ती, एस—‘असेटिसिज्म इन ऐंशंट इण्डिया’ (कलकत्ता, १९७३), पृ० ११

२. विंटरनित्ज, एस०—‘हिस्ट्री ऑफ इण्डियन रिटरेचर’ (दिल्ली, १९८१) पृ० २४६ और आगे ।

साहित्य की दृष्टि से भी आश्रम व्यवस्था के चतुर्थ चरण के रूप में संन्यासाश्रम की मान्यता का पूर्ण विकास और स्थिरता धर्मसूत्रों के रचनाकाल में ही पूर्ण हुई।

छठी शताब्दी ई० पू० में या उससे भी पूर्व, जैन धर्म और बौद्ध धर्म विचारधारा और जीवन-शैली की पारंपरिक वैदिक पद्धति से उदित हुए और आगे बढ़े—यह तथ्य लाक्षणिक है। यह लक्षण नवीन विचारधाराओं में भी दृष्टिगत होता है और वैदिक उपनिषदों में भी प्रतिबिंबित होता है। उपनिषदों में व्यक्त साहित्यिक विचारधारा, रचनात्मक बौद्धिकता और समीक्षात्मक उत्साह का प्रतिफल थी, जिसमें ब्राह्मण-युग के यांत्रिक, यदा-कदा क्रूर क्रियाकांडों के विरुद्ध विद्रोह था। किन्तु विचारों की स्वतंत्रता और जिज्ञासा के भाव एक बार जाग उठे तो सुप्त होने का नाम नहीं लेते, अतः आश्चर्य नहीं कि छठी-सातवीं शती ई० पू० में बौद्धिक गतिविधि का प्रबल अवतार हुआ जिससे स्थापित परंपराओं का विध्वंस हुआ और नये प्रयोगों से सत्य के अनुसंधान का सूत्रपात हुआ। फलस्वरूप अगणित नये दृष्टिकोणों और विचारों का उदय हुआ जिनसे अनेक मत और धर्म प्रकाश में आये। ... स्वतंत्र विचारों के बाहुल्य ने एक ओर तो बौद्ध, जैन, शैव, भागवत आदि धर्मों को जन्म दिया और दूसरी ओर चार्वाक आदि पूर्व प्रचलित मान्यताओं को समृद्ध किया जिनमें धर्म के नाम पर अनैतिक क्रियाकांड चलने लगा था।^१

ऐसी स्थिति में भी बौद्ध और जैन धर्मों को यह श्रेय दिया जाना चाहिए कि उनमें बौद्धिक और निष्पक्ष दृष्टिकोण विद्यमान रहा और आध्यात्मिक स्वतंत्रता का पक्ष लिया गया और जिनमें जाति, धर्म और लिंग के भेद-भाव के बिना सबका प्रवेश मिला। इन विचार-धाराओं पर आधारित होने के कारण श्रमण धर्मों ने बहुसंख्यक लोगों के, विशेषतः पूर्वी भारत में, विचारों को प्रभावित किया। भट्टाचार्य

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य सेन, ए० है: 'स्कूल्स एण्ड सेक्ट्स इन जैन लिटरेचर', और भट्टाचार्य, एच० (सं०)—'द कल्चरल हैरिटेज ऑफ इण्डिया', जिल्द ४ (कलकत्ता, १९८३), पृ० ३८

ने उचित विचार व्यक्त किये हैं^१ कि 'कदाचित् यह संयोगमात्र नहीं था कि वे सभी शाक्य, लिच्छवि और सात्वत नामक स्वाधीन लोकतंत्रों के स्वतंत्र वातावरण में उदित हुए ।' इस प्रकार जैन और बौद्ध धर्मों में प्रतिबिम्बित श्रमण परंपरा ने पूर्वी भारत में विशेषतः वर्तमान बिहार और बंगाल राज्यों में, बड़ी संख्या में अनुयायी प्राप्त किये ।

अहिंसा, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य और तपश्चरण श्रमण परंपरा के मुख्य सिद्धांत थे और श्रमण परंपरा के किसी भी धर्म में इन सिद्धांतों की रक्षा और क्रियान्विति उतनी नहीं हुई जितनी जैन धर्म में । जैन श्रमणों ने अपने उपदेशों और आचार से बहुसंख्यक लोगों का आदर प्राप्त किया और किसी विशेष अवस्था, जाति या साधन के प्रति आत्मीयता का परिहार किया । इसीलिए वे 'निर्ग्रन्थ' अर्थात् 'ग्रन्थ-रहित' कहे गये । उपनिषदों के काल में और कालांतर में भी श्रमणों का ब्राह्मणों के साथ निरंतर उल्लेख सूचित करता है कि श्रमणों को भी वही आदर दिया जाता था जो ब्राह्मणों को दिया जाता था । जैसा कि पाठक ने संकेत किया है^२ 'समस्त पद'— 'श्रमण-ब्राह्मण' से एकसाथ ध्वनि निकलती है कि आध्यात्मिक उपदेशकों के ये दो वर्ग थे जिनमें प्रायः कोई भेद-भाव नहीं था । दीघ-निकाय आदि बौद्ध ग्रन्थों में भी 'श्रमण ब्राह्मण' पद का प्रयोग हुआ है जिससे इन दोनों का महत्त्व ध्वनित होता है । अशोक ने अपने साम्राज्य के सभी धर्मों को पांच वर्गों में विभाजित किया था । (बौद्ध) संघ, ब्राह्मण, आजीवक, निर्ग्रन्थ (या जैन) और अन्य मत । उसने घोषणा की थी कि वह सभी के प्रति सम्मान का भाव रखता है, भले ही उसका तीव्र आकर्षण बौद्ध धर्म के प्रति था । गिरनार, शाहबाजगढ़ी और मानसेरा के उसके धर्म-लेखों में श्रमणों के जो प्रचुर उल्लेख हैं उनसे तत्कालीन लोगों पर श्रमणों के प्रभाव की पुष्टि होती है ।^३

१. भट्टाचार्य पूर्वोक्त,

२. गोरक एन० आर०, 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन बुद्धिज्म' (१९८१)

पृ० २१

३. ब्रह्मचर्य, हुल्ल, 'कॉपैस इन्स्क्रिप्शनम् इण्डिकेरम्', भाग १

तथापि यह उल्लेखनीय है कि “श्रमण” और ब्राह्मण” शब्दों का प्रयोग साथ-साथ होने पर भी श्रमण धर्म ब्राह्मण धर्म के कर्मकांड और यज्ञों के विरुद्ध थे। बौद्धों का अंगुत्तर-निकाय और जैनों के दस-वेयालिय और उत्तरजज्ञयण में ब्राह्मणों के क्रियाकांड का निरसन किया गया है और “वास्तविक” ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं। दो विभिन्न आध्यात्मिक पद्धतियों का प्रतिनिधित्व करने वाले श्रमण और ब्राह्मण धर्मों का परस्पर विरोध एक जनश्रुति का-सा रूप ले चुका था, त्रिममे पतंजलि ने यह वार्तिक लिखा^१ : “येषां च शाश्व-तिको विरोधः”। यही कारण है और इसमें आश्चर्य भी नहीं, कि जैन आगम गर्व के साथ सूचित करते हैं कि महावीर के सभा प्रमुख गणधर ब्राह्मण थे।

यद्यपि बौद्ध और जैन धर्म श्रमण परंपरा से उद्भूत हुए थे, तथापि उन दोनों में स्पष्ट और विचारणीय अंतर है। जैसा कि सर्वविदित है, बुद्ध ने मध्यमा-प्रतिपदा (मध्यम मार्ग) का उपदेश दिया जिसका तात्पर्य था—कि वैदिक धर्म के आत्यंतिक कर्मकांड का निराकरण और घोर कायोत्सर्ग की पद्धति का परिहार। तथापि, बौद्ध धर्म के इतिहास से प्रकट होता है कि कई दृष्टियों से उसे व्यावहारिक सुविधावाद के समक्ष झुकना पड़ा जिसके कारण अंततः उसका पतन होकर रहा; दूसरी ओर श्रमण परंपरा के दूसरे धर्म, जैन धर्म, ने कुछ ऐसा किया कि वह कायोत्सर्ग की पद्धति पर अटल रहकर आज भी जीवित रह सका है। इसलिए यह निष्कर्ष निकालना अनुचित नहीं होगा कि श्रमण धर्म के भ्रमणशील जीवन, कायोत्सर्ग की पद्धति का अनुसरण, हिंसा और कर्मकांड का परित्याग, लिंगों की समानता की उद्घोषणा, जातिवाद की अस्वीकृति आदि प्रमुख सिद्धांतों का पालन आज भी जैन श्रमण धर्म के अनुयायियों द्वारा किया जा रहा है। इससे यह तथ्य प्रतिफलित होता है कि जैन संस्कृति और धर्म के उपदेश आज भी अविच्छिन्न रूप में विद्यमान हैं।

श्रमण धर्म के प्रमुख सिद्धांतों का पालन बहुत बड़ी संख्या में जैन साधुओं और साध्वियों द्वारा किया जा रहा है। दूसरी ओर, वैदिक

धर्म का आज का रूप इतने परिवर्तनों से होकर निकला है कि अपने प्राचीन रूप से भिन्न अवस्था में आ गया है। इसी प्रकार, बौद्ध धर्म अपनी मातृभूमि में भी टिका नहीं रह सका, भले ही वह उसके बाहर प्रसरित हुआ। इन दोनों के विपरीत, जैन धर्म एकमात्र ऐसा धर्म है जो न केवल आज भी जीवित है प्रत्युत बहुत बड़ी सामाजिक रूप और दर्शन को अक्षुण्ण बनाये हुए है। अतएव श्रमण धर्म और जैन संस्कृति एक अविच्छिन्न संबंध और विध्यात्मक संपर्क का सद्भाव प्रतीत होता है, जो अतीत में भी था और वर्तमान में भी है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैन धर्म ने श्रमण धर्म की परंपराओं की दाय प्राप्त की है और उनका परिपालन भी किया है।

श्रमण धर्मों के मुख्य लक्षणों का प्रतिपादन पहले किया जा चुका है, अब हम उनके प्रकाश में आज के जैन आचार की परीक्षा करेंगे जिससे जैन संस्कृति और श्रमण परंपरा की तुलनात्मक व्याख्या की जा सके। प्रथम और सर्वोपरि, श्रमण समाज एक भ्रमणशील समाज था, सांसारिक गतिविधियों से अस्पृष्ट; यह लक्षण तीर्थङ्कर महावीर के जीवन में ही नहीं परिलक्षित होता है, प्रत्युत जैन साधुओं और साध्वियों के संघ में आज प्रचलित जीवन-पद्धति में भी दृष्टिगत होता है। यह परिज्ञात है कि महावीर अपनी विहार-यात्राओं में ग्रामों में एक रात्रि और नगरों में पांच रात्रियों तक ही रुकते थे (गांम एग-राइया, नयरे पंचराइया) इस पद्धति का पालन वर्षावास के अतिरिक्त, जैन साधुओं और साध्वियों द्वारा आज भी किया जाता है।

श्रमण परंपरा का दूसरा प्रमुख लक्षण था अहिंसा का निरतिचार पालन। बार्सवे तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का कथानक इतना सुपरिचित है कि यहां उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। इतना कहना ही पर्याप्त है कि जैन आज भी अहिंसा के सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक नियम बद्ध धुरंधर माने जाते हैं। साधु-जीवन से संबंधी नियमावली इतनी कठिन प्रतीत होती है कि उसका पालन ही न किया जा सके किन्तु उसका आधार है मुख्यतः वह सिद्धांत जिसके अनुसार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक हिंसा का परित्याग आवश्यक है। दसवेयालिय की यह उक्ति उचित ही है कि "सभी जीव जीवित रहना चाहते हैं, मरना

नहीं चाहते - सब्बे जीवा वि इच्छंति जीविउं, ण, मारिज्जिउं— इसलिये किसी भी जीव की हिंसा घृणित कार्य है। इस उक्ति की स्पष्ट शब्दों में पुष्टि याज्ञिकी हिंसा में की गयी थी के विरोध, जिसका विधान वैदिक कर्मकांड में है। यह बताया जाना चाहिए कि भारत के सभी धर्मों में जैन धर्म ही ऐसा है जिसने अहिंसा का अधिकतम सीमा तक पक्ष लिया और परिपालन भी किया। यह एक ऐसा सत्य है, जिसने शुब्रिंग को यह कहने को विवश कर दिया कि जैन लोग कीड़ों-मकोड़ों जैसे प्राणियों की आदमी से भी अधिक चिंता करते हैं। जनसंख्या में शाकाहारियों के अधिक प्रतिशत, विशेषतः पश्चिमी भारत में, का श्रेय जैन संस्कृति और उसकी अहिंसावादिता को दिया जाना चाहिए।

श्रमण परंपरा द्वारा प्रतिपादित आध्यात्मिक स्वतन्त्रता जैन संस्कृति की पृष्ठास्थि रही है। प्राचीन जैन द्रष्टाओं ने किसी भी व्यक्ति की प्रतिष्ठा का मापदण्ड उसका आचार बताया है, उसका जानि-विशेष या परिवार-विशेष में जन्म नहीं। क्योंकि श्रमण परंपरा में आचार या व्यवहार की पवित्रता पर विशेष बल दिया गया है, अतः जातिव्यवस्था की परंपरा और उच्च-नीच का भेद अधिक समय तक नहीं चल सका। अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्ध ग्रन्थ और मूल-सूत्र आदि जैन ग्रन्थों में यह पूर्णतया स्पष्ट रूप से अंकित है। उदाहरण के लिए, उत्तराध्यायन के पच्चीसवें अध्याय में एक सच्चे ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं। अहिंसा, निःस्पृहता, ब्रह्मचर्य, सत्य और अपरिग्रह के पालन से ही कोई व्यक्ति ब्राह्मण कहलाने का पात्र हो सकता है। उस ग्रन्थ की अग्रलिखित गाथाओं से यह बात स्पष्ट होगी और ज्ञात होगा कि बाह्य लक्षणों से कोई लाभ नहीं होता :

न वि मुंडिण्ण समणो, न ओकारेण बंभणो,
न मुनि रण्ण-वासेण कुस-चीरेण न तावसो । २५.३१

समयाए समणो होइ बंभचेरेण बंभणो,
नाणेण य मुनि होई तवेण होइ तावसो । २५.३२

कम्मुणा बंभणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ,
वइसो कम्मुणा होइ, सुदो हवइ कम्मुणा । २५.३३

इस प्रकार श्रमण परंपरा के सिद्धांतों को, जिनमें सम्यक्चारित्र पर बल दिया गया है न कि कर्मकांड या बाल-तप पर, ध्यान में रखते हुए जैन द्रष्टाओं ने एक ऐसी आचार-संहिता प्रस्तुत की जिसका आज के जैन भी पालन कर रहे हैं और जो जैन संस्कृति का एक अभिन्न अंग बन चुकी है।

वैदिक परंपरा की भाँति श्रमण परंपरा ईश्वर के सिद्धांत पर आधारित नहीं है, अतः इस पर बल दिया गया कि अपरिग्रह का कठोरता से पालन करके एवं कर्मपुद्गलों के आस्रव का निरोध करके मोक्ष की प्राप्ति की जाए। अतः जैन धर्म में कर्मों का आस्रव रोकने तथा निर्जरा करने के लिए आत्म-संयम पर बल दिया गया। कृपा करके सहायता पहुँचाने वाले परमात्मा की आवश्यकता ही नहीं समझी गयी। यही कारण है कि जैन धर्म में आज भी परमात्मा की मान्यता नहीं है। जैन धर्म के अनुसार देवों को भी मोक्ष की प्राप्ति के लिये मनुष्य भव धारण करना पड़ेगा। किसी भी प्रकार के कर्मकांड का कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह इस प्रक्रिया में सहायक नहीं हो सकता।

पूर्व कथन के अनुसार, श्रमण परंपरा में लिंगों की समानता का प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से, जैन धर्म की तुलना में बौद्ध धर्म का सन्दर्भ देना उचित होगा। यह सुविदित है कि बुद्ध ने आरंभ में स्त्रियों को दीक्षा की अनुमति नहीं दी थी। किन्तु कालांतर में, आनन्द के अनुरोध पर, स्त्रियों की दीक्षा की अनुमति उन्होंने झुंझलाते हुए दे दी। जैन धर्म में ऐसी बात नहीं है। यहाँ तक की प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभनाथ के समवसरण में साध्वियों की प्रचुर संख्या थी। वही परंपरा ऋषभोत्तर काल में चलती रही; जिनकी ऐतिहासिकता सन्देह के परे है उन तेईसवें और चौबीसवें तीर्थङ्करों के समवसरणों में भी साध्वियों की बहुत बड़ी संख्या थी। इस तथ्य की संपुष्टि मथुरा से प्राप्त जैन अभिलेखों^१ से होती है जिनमें अनेक जैन साध्वियों और महिला अनुयायियों के उल्लेख मिलते हैं।

१. 'लूडस लिस्ट', एपिग्राफिया इण्डिया, जिल्द १०।

तथापि, यह भी उल्लेखनीय है कि पुरुष और स्त्री की यह समानता ऊपरी है। श्रमण परंपरा से उद्भूत बौद्ध और जैन धर्म में व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों के प्रति अपेक्षाकृत कम उदारता प्रदर्शित की गयी है, जैसा कि इनके साध्वियों के लिए बनाये गये नियमों से स्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्त्रियों पर घोर अविश्वास का भाव था, जिसके सन्दर्भों से जैन साहित्य भी भरा पड़ा है। संपूर्ण साधुओं, यहाँ तक कि एक नव-दीक्षित साधु की तुलना में भी एक साध्वी का चिर-दीक्षित होने पर भी, सबसे नीचे का स्थान दिया जाना इस तथ्य की पुष्टि करता है और इससे संपूर्ण स्त्रीजाति के प्रति जैन दृष्टिकोण का आभास होता है। इस विषय में दिगम्बर कठोरतर हैं जो मानते हैं कि स्त्री, पुरुष के रूप में पुनर्जन्म लेकर ही मोक्ष प्राप्त कर सकती है। दृष्टिकोण की इन वास्तविकताओं के रहते हुये भी जैन संस्कृति को यह श्रेय दिया जाना चाहिये कि उनमें एक वर्ग तो ऐसा था, जिसने स्त्रियों को आत्मिक अनुभव का मार्ग उन्मुक्त रखा।

श्रमण परंपरा का एक और महत्वपूर्ण लक्षण था सभ्रांत वर्ग की अपेक्षा जन-साधारण से अधिक मेल-मिलाप। श्रमणशील साधु होने के कारण वे जन-साधारण से संपर्क में आते थे, इससे उनसे बात करने के लिए उनकी समझ में आने योग्य भाषा की आवश्यकता पड़ती थी। इस कारण, बुद्ध और महावीर ने लोकभाषाओं और प्राकृत को अपनी भाषा बनाने की महती उदारता प्रदर्शित की। उच्च वर्ग की भाषा संस्कृत थी और वह समाज के सभ्रांत वर्ग तक ही सीमित रही प्रतीत होती है। इस व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्राकृत भाषा में विपुल और विविध साहित्य की सर्जना हुई। सर्जना की यह परंपरा मध्यकाल तक चलती रही जिसका प्रमाण है भट्टारकों, यतियों और गुरुओं द्वारा गुजराती, कन्नड़, हिन्दी, राजस्थानी आदि क्षेत्रीय भाषाओं में रचा गया विपुल साहित्य। इन क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से जैन धर्म जन-साधारण तक पहुँचा। श्रमण परंपरा के अनुरूप उसकी यह प्रवृत्ति होनी ही चाहिए थी।

श्रमण परंपराओं के जैन धर्म में चलते रहने का रहस्य एक अत्यन्त विशेष लक्षण में निहित है। श्रमण परंपरा के अनुरूप जैसा कि

पूर्व में कहा जा चुका है, जैन श्रमण भ्रमणशील साधुओं का जीवन व्यतीत करते रहे हैं। इससे उन्हें अपने श्रावक अनुयायियों से निरंतर संपर्क बनाये रखने में सहायता मिली। जैन धर्म के जीवन्त बने रहने का एक बहुत बड़ा कारण यह भी बना। उत्तरवर्ती काल में बौद्ध धर्म मठों में सीमित हो गया, जबकि जैन श्रमण सतत भ्रमण में संलग्न रहे। यही कारण है कि जैनों के मठों और गुहावासों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। भ्रमणशीलता की जैनों की प्रवृत्ति आज भी विद्यमान है। श्रमणसंघ और उपासक-संघ में पारस्परिक आदान-प्रदान निरन्तर चलता रहता है।

अतएव यह निष्कर्ष सर्वथा उचित होगा कि जैन धर्म में प्राचीन श्रमण परंपरा का अस्तित्व आज भी देखा जा सकता है।



शरीर-संरचना के आधार पर मानव व्यक्तित्व का वर्गीकरण (जैन दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान)

—डा० त्रिवेणी प्रसाद सिंह

जैन दर्शन में मानव व्यक्तित्व के वर्गीकरण के विभिन्न मानक प्रचलित रहे हैं। इनमें एक मानक शारीरिक संरचना के आधार पर भी है, हालाँकि शारीरिक संरचना के आधार पर भी मानव व्यक्तित्व के वर्गीकरण करने की विभिन्न शैलियाँ प्रचलित हैं, यथा—शरीर की बनावट, शरीर का आकार-प्रकार, लिंग आदि। आधुनिक मनो-वैज्ञानिकों में क्रेत्समर और शेल्डन ने शारीरिक संरचना (विशेष रूप से शरीर के आकार-प्रकार) को ध्यान में रखकर मानव-व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया और उस शरीर के आकार-प्रकार का मानव स्वभाव के साथ सह-सम्बन्ध खोजने का प्रयत्न किया है। जैन आगम ग्रन्थों में शारीरिक आधारों पर मानव व्यक्तित्व के वर्गीकरण के तीन प्रारूप प्रचलित रहे हैं—संहनन, संस्थान और लिंग। यद्यपि जैन दार्शनिकों ने एक मनोवैज्ञानिक के रूप में इन शारीरिक संरचनाओं का स्व-भावगत विशेषताओं के साथ सह-सम्बन्ध को स्पष्ट करने का कोई प्रयत्न नहीं किया, फिर भी वे एक धर्म-दार्शनिक के रूप में इन शारीरिक संरचनाओं का आध्यात्मिक विकास के साथ सह-संबंध देखने का प्रयास अवश्य करते हैं। सर्वप्रथम में जैनों के संस्थान-सिद्धान्त की चर्चा करना उचित समझूँगा। ये छः प्रकार के हैं—समचतुरस्र संस्थान, न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, कुब्ज संस्थान, वामन संस्थान और हुंडक संस्थान।

१. समचतुरस्र संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण : -

यह शब्द सम+चतुः+अस्र से बना है। सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण। पालथी मारकर

बैठने पर जिस शरीर के चारो कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, वाम स्कन्ध और वाम जानु का अन्तर समान हो, उसे समचतुरस्र संस्थान से युक्त व्यक्ति कहते हैं ।

साथ ही जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव ठीक प्रमाण वाले हों, उसे समचतुरस्र संस्थान से युक्त व्यक्तित्व कहते हैं ।

दूसरे प्रकार से कह सकते हैं कि ऊपर, नीचे और मध्य में कुशल शिल्पी द्वारा बनाये गये समचक्र की तरह समान रूप से शरीर के अवयवों की रचना होना ।^१ जैन परम्परा में शलाकापुरुषों की शरीर-रचना इसी संस्थान से युक्त होती है ।

२. न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण :—

न्यग्रोध वट वृक्ष को कहते हैं । जैसे वट वृक्ष ऊपर फैला हुआ होता है और नीचे भाग में संकुचित होता है, उसी प्रकार जिस संस्थान में नाभि के ऊपर का भाग विस्तारवाला और नीचे का भाग हीन अवयव वाला हो उसे न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान कहते हैं । इसकी पुष्टि अकलंकदेव ने भी की है ।^२

३. सादि संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण :—

जिस संस्थान में नाभि से नीचे का भाग पूर्ण और ऊपर का भाग हीन हो, उसे सादि संस्थान कहते हैं ।

सादि सेमल (शाल्मली) वृक्ष को कहते हैं । शाल्मली वृक्ष का धड़ (तना) जैसा पुष्ट होता है वैसा ऊपर का भाग नहीं होता ।

१. तत्रोर्ध्वाधोमध्येषु समप्रविभागेन शरीरावयवसन्निवेशव्यवस्थापनं कुशलशिल्पिनिर्वृततसमस्थितिचक्रवत् अवस्थानकरं समचतुरस्र संस्थाननाम ।—राजवार्तिक, संपा. महेन्द्रकुमार जैन, पृ० ५७६ ।

२. नाभेरुपरिष्ठाद् भूयसो देहसन्निवेशष्याधस्ताच्चाल्मीयसो जनकं न्यग्रोध-परिमण्डलसंस्थाननाम । वही ।

इसी प्रकार जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग पूरिपूर्ण और ऊपर का भाग हीन हो, वह सादि संस्थान है ।^१

४. कुब्ज संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण :—

जिस व्यक्ति के छाती, पीठ, पेट आदि अवयव टेढ़े हों लेकिन हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, वह कुब्ज संस्थान से युक्त व्यक्तित्व वाला है ।

राजवार्तिक में पीठ पर पुद्गल पिण्डोंवाले अर्थात् कुबड़ापन वाले व्यक्ति को कुब्ज संस्थान से अभिहित किया गया है ।^२

५. वामन संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण :—

जिस व्यक्ति के छाती, पीठ, पेट आदि अवयव पूर्ण हों, पर हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों, उसे वामन संस्थान कहते हैं ।

जैन परम्परा में सभी अंग-उपांगों के छोटा होने वाले व्यक्ति को वामन संस्थान वाला बताया गया है ।^३

६. हुंडक संस्थान से युक्त व्यक्तित्व के लक्षण :—

जिस व्यक्ति के शरीर के समस्त अवयव बेढब हों, वह हुंडक संस्थान वाला व्यक्ति है । राजवार्तिक में जिस व्यक्ति के सभी अंग और उपांगों की रचना बेतरतीब, या हुंडक की तरह है उसे हुंडक संस्थान वाला व्यक्ति कहा गया है ।^४ इस संस्थान से युक्त व्यक्तित्व का उदाहरण हमें अष्टावक्र ऋषि में देखने को मिलता है ।

१. स्वातिवंलमीक; शात्मलिर्वा: तस्य संस्थानमिव संस्थानं यस्य शरीरस्य तत्स्वाति शरीर संस्थानम् । अहो विसालं उदरि सण्णमिदि जं उत्तं होदि । धवला ६।१, ९-१, ३४।७१।४
२. पृष्ठप्रदेशभाविवहुपुद्गलप्रचयविशेषलक्षणस्य निर्वर्तकं कुब्जसंस्थाननाम् । राजवार्तिक पृ० ५७७ ।
३. सर्वाङ्गोपाङ्गह्रस्वव्यवस्थाविशेषकारणं वामनसंस्थाननाम । वही ।
४. सर्वाङ्गोपाङ्गानां हुण्डसंस्थितत्वात्हुण्डसंस्थाननाम । वही ।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों द्वारा शारीरिक संरचना के आधार पर किये गये मानव व्यक्तित्व के वर्गीकरण को हम निम्न प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं :—

क्रेत्समर के अनुसार मानव-व्यक्तित्व के चार प्रकार हैं^१ :—

१. पुष्टकाय (Atheletic)
२. कृशकाय (Asthenic)
३. तुंदिल (Pyknic)
४. मिश्रकाय (Dysplastic)

१. पुष्टकाय प्रकार का व्यक्तित्व :

पुष्टकाय प्रकार के व्यक्तित्व वाले मानव का शारीरिक गठन अच्छा होता है। उनमें साहस, निर्भयता एवं सफलता की आकांक्षा प्रधान होती है। इसके साथ ही साथ उनमें क्रियाशीलता अधिक पायी जाती है। ये समाज में आवश्यक समायोजन करने में सफल होते हैं और अपना स्थान भी बना लेते हैं।

२. कृशकाय प्रकार का व्यक्तित्व :

कृशकाय प्रकार का व्यक्तित्व वाला व्यक्ति शारीरिक रूप से लम्बा और कृश होता है। वह दूसरों का आलोचक होता है। लेकिन दूसरों द्वारा उसकी आलोचना करने पर उसे बुरा लगता है।

३. तुंदिल प्रकार का व्यक्तित्व :

तुंदिल प्रकार के व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के शरीर में तोंद की प्रधानता होती है। इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले मनुष्य मिलनसार एवं मैत्रीयुक्त होते हैं। ये आरामतलबी और बातचीत में बहुत आनन्द लेने वाले होते हैं। इस कारण तुंदिल प्रकार का व्यक्तित्व लोकप्रिय बन जाता है।

१. Kretschmer, Physique and Character, New York Harccoust, Brance and Co. 1925

उद्धृत—व्यक्तित्वमनोविज्ञान—सीताराम जायसवाल, पृ० १६४

४. मिश्रकाय प्रकार का व्यक्तित्व :

मिश्रकाय प्रकार के व्यक्तित्व वाले लोगों में ऊपर वर्णित तीनों प्रकार के गुणों का मिश्रण पाया जाता है। क्रेत्समर का यह मत है कि अधिकतर मानसिक रोगियों के शरीर की बनावट मिश्रकाय प्रकार की होती है। अतः इस प्रकार के व्यक्तित्व में सामान्यता की सम्भावना पायी जाती है।

शेल्डन ने व्यक्ति के शरीर की बनावट के आधार पर व्यक्तित्व का वर्गीकरण किया है^१। ये निम्न हैं—

१. गोलाकार (Endomorphic)
२. आयताकार (Mesomorphic)
३. लम्बाकार (Ectomorphic)

१. गोलाकारिता और व्यक्तित्व (Endomorphic and personality)

जिस शरीर की बनावट गोलाकार होती है, उसकी पाचन क्रिया बहुत अच्छी होती है और उसके समस्त व्यवहार में आराम पसन्दगी पायी जाती है। इससे प्रभावित व्यक्तित्व में अच्छे भोजन करने की रुचि की प्रधानता, गहरी नींद में सोने की इच्छा, मित्रता बढ़ाने की इच्छा, परिवार के प्रति अधिक लगाव दिखायी पड़ते हैं। शेल्डन ने इस तरह के व्यक्तित्व को विसेरोटोनिया (Viscerotonia) शब्द का प्रयोग किया है।

२. आयताकारिता और व्यक्तित्व (Metomorphic and personality)

शेल्डन ने आयताकार शरीरवाले व्यक्ति के व्यक्तित्व को सोमेटो-टोनिया (Somatotonia) शब्द का प्रयोग किया है। इससे प्रभावित

१. W. H. Sheldon, et al, The Varieties of Human Physique.

New York, Harper and Brothers, 1940

उद्धृत—व्यक्तित्वमनोविज्ञान—सीताराम जायसवाल, पृ० १६५.

व्यक्ति के व्यवहार में शारीरिक शक्ति एवं गति की प्रधानता होती है। इस तरह के व्यक्तित्व वाले लोग व्यायाम के प्रेमी और साहसी होते हैं। ये व्यक्ति अपने जीवन के लक्ष्य के प्रति निष्ठावान रहते हैं और अपने लक्ष्य को छोड़कर किसी अन्य वस्तु से प्रेम नहीं करते हैं।

३. लम्बाकारिता और व्यक्तित्व (Ectomorphy and personality)

शेल्डन ने लम्बाकारिता शरीर वाले व्यक्तित्व के लिए सेरोब्रो-टोनिया (Cerobrotonia) शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार के व्यक्तित्व वाले लोग मानसिक कार्यों में अधिक रुचि लेते हैं अर्थात् अन्य लोगों की तुलना में इनकी बौद्धिक क्षमता अधिक होती है। शारीरिक क्षमता की दृष्टि से इस प्रकार के लोग जल्दी थक जाते हैं। यही कारण है इन्हें एकान्त में रहना अधिक प्रिय है। ऐसे लोग मानसिक कार्यों में अधिक लगे रहते हैं तथा इनमें थकान भी जल्दी आ जाती है।

उपर्युक्त वर्गीकरण के सम्बन्ध में उल्लेख है कि किसी भी व्यक्ति में शुद्ध रूप से एक ही प्रकार की बनावट नहीं पायी जाती है। बल्कि कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं, जिनमें तीनों गुण पाये जाते हैं। लेकिन जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की बनावट की अधिकता होती है उसी आधार पर व्यक्ति के शरीर की बनावट का निर्धारण किया गया है।

जैन दर्शन में शरीर संरचना के आधार पर समचतुरस्र, न्यग्रोध, स्वाति (सादि), कुब्ज, वामन और हुंडक ऐसे जो छह विभाग किये गये हैं, उनकी क्रैत्समर द्वारा किये गये व्यक्तित्व के चार प्रकार—पुष्टकाय, कृशकाय, तुंदिल और मिश्रकाय से तुलना की जा सकती है।

जैनों का समचतुरस्र शरीर संस्थान, क्रैत्समर के पुष्टकाय प्रकार से तुलनीय है, क्योंकि दोनों के अनुसार यही व्यक्तित्व का ऐसा प्रकार है, जिसमें शरीर को पूर्णतया सुसंगठित और सुडौल माना गया है। जैनों के अनुसार समचतुरस्र संस्थान में शरीर के प्रत्येक अंग अपने समुचित आकार-प्रकार में होते हैं। कोई भी अंग न तो मर्यादा से

अधिक लम्बा-चौड़ा होता है और न मोटा और दुबला ही । क्रैत्समर ने भी पुष्टकाय प्रकार के यही लक्षण बताये हैं । सुसंगठित और सुडौल शरीर व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण अंग है । इसे जैन दर्शन और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही स्वीकार करते हैं । जैनों के अनुसार तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, वासुदेव आदि शलाकापुरुष (महापुरुष) सनचतुरस्र संस्थान वाले होते हैं । इसका अर्थ यह है कि इनके प्रभावशाली व्यक्तित्व का एक कारण इनकी शारीरिक संरचना है । क्रैत्समर ने पुष्टकाय प्रकार के व्यक्तित्व में साहस, निर्भयता, सफलता, सामाजिक समायोजन आदि गुणों की जो चर्चा की है वे जैनों के शलाकापुरुषों में भी पाये जाते हैं, इसलिए वे विशिष्ट व्यक्ति माने जाते हैं ।

इस प्रकार दोनों ही परम्परायें चाहे एक दूसरे से भिन्न हों, किन्तु दोनों ने सफल व्यक्तित्व के लिए सुडौल और सुगठित शरीर को समानरूप से स्वीकार किया है ।

जैनों का न्यग्रोध परिमण्डल शरीरसंस्थान किसी सीमा तक क्रैत्समर के कृशकाय प्रकार से तुलनीय हो सकता है । यद्यपि दोनों में यहाँ एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है, वह यह कि कृशकाय प्रकार का व्यक्ति लम्बा और छरहरे बदन का होता है जबकि न्यग्रोध संस्थान वाला व्यक्ति लम्बा होकर भी पूर्णतया छरहरे बदन का नहीं होता है । जैनों के अनुसार न्यग्रोध परिमण्डल वाले व्यक्ति के शरीर का अधो-भाग लम्बा और पतला होता है किन्तु उसके शरीर का ऊपरी भाग अर्थात् वक्षस्थल, मुखमण्डल आदि सुगठित होते हैं । मनोवैज्ञानिकों ने स्वभाव की दृष्टि से इसे अन्तर्मुखी और दूसरों का आलोचक बताया है । जैन परम्परा में न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान वाले व्यक्ति के स्वभाव के सम्बन्ध में कोई विशेष सूचना हमें प्राप्त नहीं होती है । वैसे जैनों का न्यग्रोध परिमण्डल शरीरसंस्थान क्रैत्समर के मिश्रकाय प्रकार के अधिक निकट है ।

क्रैत्समर का तुंदिल प्रकार का व्यक्ति जैनों के स्वाति संस्थान से तुलनीय है । जैनों के अनुसार स्वाति संस्थान से युक्त व्यक्ति के शरीर का नाभि से नीचे का भाग मोटा और ऊपर का भाग हीन होता है । 'धवला' में इस संस्थान की तुलना वाल्मीक से की गयी है ।

वाल्मीक नीचे से चौड़ा और ऊपर पतला होता है। क्रैत्समर के तुंदिल प्रकार के व्यक्तित्व में हमें यही विशेषता मिलती है। अतः दोनों में बहुत कुछ समानता मानी जा सकती है।

आधुनिक मनोविज्ञान इस प्रकार के व्यक्तित्व को मिलनसार, सामाजिक और आरामपसन्द कहता है। जैनों के अनुसार भी हम इस प्रकार के व्यक्तित्व को बहिर्मुखी कह सकते हैं। बहिर्मुखी का मुख्य लक्षण जैनों ने जो बताया है वह है—

‘सांसारिक भोगों में आनन्द लेना’। क्रैत्समर ने भी ऐसे व्यक्तित्व के सम्बन्ध में सामाजिकता और आनन्दप्रियता को स्वीकार किया है। अतः दोनों में बहुत कुछ समानता है।

क्रैत्समर ने जिस मिश्र प्रकार की चर्चा की है वस्तुतः वे किसी सीमा तक न्यग्रोध और स्वाति संस्थान के ही रूप हैं। क्रैत्समर के अनुसार मिश्रकाय प्रकार में पुष्टकाय और कृशकाय प्रकारों के मिश्रित लक्षण पाये जाते हैं। न्यग्रोध और स्वाति संस्थान में भी शरीर के आधे भाग को पुष्ट और आधे भाग को हीन मानकर मिश्रित व्यक्तित्व की कल्पना की गयी है। मात्र यही नहीं जैनों ने स्वाति संस्थान और न्यग्रोध संस्थान की जो चर्चा की है वह आनुभविक आधार पर सत्य प्रतीत होती है।

जैनों का वामन संस्थान भी किसी सीमा तक क्रैत्समर के तुंदिल प्रकार के निकट आता है फिर भी दोनों को पूर्णतः समान नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि तुंदिल प्रकार और वामन संस्थान दोनों में व्यक्तित्व को नाटा माना गया है वहाँ जैन परम्परा में वामन को आवश्यक रूप से मोटा नहीं माना गया है। वामन संस्थान वाला व्यक्ति नाटा तो होता है किन्तु वह मोटा भी हो, यह आवश्यक नहीं।

जैनों ने कुब्जक और हुंडक संस्थानों की जो चर्चा की है वह यद्यपि क्रैत्समर के व्यक्तित्व के प्रकारों की चर्चा के साथ तुलनीय तो नहीं परन्तु आनुभविक आधार पर सत्य है। आनुभविक आधार पर कुब्जक और हुंडक संस्थान वाले अनेक व्यक्ति उपलब्ध होते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान में यदि इनके स्वभावों के सम्बन्ध में विशेष अध्ययन किया जाय तो हमें अनेक मनोवैज्ञानिक सत्य प्राप्त हो सकते हैं ।

शेल्डन नामक मनोवैज्ञानिक ने शरीर की बनावट के आधार पर व्यक्तित्व को गोलाकार, आयताकार और लम्बाकार रूप में वर्गीकृत किया है । उनके आयताकार व्यक्तित्व के वर्ग की तुलना जैन परम्परा के समचतुरस्र संस्थान से कर सकते हैं । उन्होंने इस प्रकार के शरीर संरचना वाले व्यक्तित्व की उद्यमी और साहसी कहा है; साथ ही उसे बलवान भी माना है । यही गुण हमें जैन परम्परा के समचतुरस्र संस्थान से युक्त व्यक्तित्व में मिलते हैं ।

शेल्डन का गोलाकार व्यक्तित्व जैन परम्परा के स्वाति संस्थान से तुलनीय माना जा सकता है, क्योंकि स्वाति संस्थान को वाल्मीक के आकार के समान बताया गया है, जो शेल्डन के गोलाकार व्यक्तित्व के समान माना जा सकता है । किसी सीमा तक इस प्रकार की शारीरिक संरचना वाले व्यक्तित्व को जैनों के वामन संस्थान वाले व्यक्तित्व के भी निकट माना जा सकता है ।

शेल्डन ने लम्बाकार शरीर संरचना की जो चर्चा की है वह जैनों के न्यग्रोध संस्थान के निकट कही जा सकती है किन्तु दोनों में अन्तर भी है । क्योंकि इस संस्थान वाले व्यक्ति के नाभि के ऊपर का भाग पुष्ट होता है । लम्बाकार व्यक्तित्व के समरूप कोई भी व्यक्तित्व हमें जैन परम्परा में उपलब्ध नहीं होता है । लम्बाकार व्यक्तित्व में मुख्यरूप से लम्बा और पतला दोनों बातें आ जाती हैं; जबकि जैनों में शरीर के वर्गीकरण में ऐसा कोई संस्थान नहीं है, जो लम्बा और कृश दोनों हो ।

जैनों के न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान में शरीर के अधोभाग को कृश और ऊपरी भाग को पुष्ट माना गया है और स्वाति संस्थान में भी शरीर के अधोभाग को पुष्ट और ऊपरी भाग को कृश माना गया है । अतः दोनों ही शेल्डन के लम्बाकार व्यक्तित्व से भिन्न हैं ।

हुंडक और कुब्जक संस्थानों की चर्चा हमें आधुनिक मनोवैज्ञानिक शेल्डन द्वारा की गयी वर्गीकरण में नहीं प्राप्त होती है। इसका कारण यह है कि आधुनिक मनोवैज्ञानिक साधारणतया सामान्य व्यक्तियों को ध्यान में रखकर, उनका अध्ययन तथा वर्गीकरण प्रस्तुत करते हैं। अगर इन व्यक्तियों के भी स्वभावों का अध्ययन मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किया जाय तो बहुत कुछ सत्य प्राप्त हो सकती है।

जहाँ तक 'अष्टावक्र ऋषि' के शारीरिक बनावट और बौद्धिक सामर्थ्य का प्रश्न है, उन्हें तो अपवाद ही मानना होगा।

शरीर-संरचना मानव व्यक्तित्व के लिए एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। जैन परम्पराके साथ-साथ आधुनिक मनोवैज्ञानिक भी मानते हैं कि शारीरिक संरचना का प्रभाव व्यक्ति के सामाजिक जीवन पर भी पड़ता है। यद्यपि जै ग्धर्म में आध्यात्मिक दृष्टि से संस्थान को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया है, क्योंकि उनके अनुसार छहों संस्थानों के व्यक्ति निर्वाण (मुक्ति) प्राप्त कर सकते हैं। शारीरिक संरचना, व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में तो बाधक नहीं किन्तु व्यावहारिक जीवन का महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

शोध सहायक

पाश्वर्नाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी

सूत्रकृतांग में वर्णित दार्शनिक विचार

—डा० श्रीप्रकाश पाण्डेय

समग्र भारतीय संस्कृति एवं विचारधारा का मुख्य लक्ष्य आध्यात्मिक विकास एवं लोक-कल्याण रहा है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन, की जिसका मूल स्वर अध्यात्मवाद है, रुचि किसी काल्पनिक एकांत में न होकर मानव समुदाय के कल्याण में रही है। भारतीय दर्शन की दो प्रमुख धाराओं—वैदिक एवं अवैदिक में से, अवैदिक धारा के प्रतिनिधि जैनदर्शन में आत्मवाद, कर्मवाद, परलोकवाद एवं मोक्षवाद का विशद् विवेचन मिलता है। इन चारों सिद्धान्तों में भारतीय दर्शनों की मूल प्रवृत्तियाँ समाविष्ट हैं। भारतीय परम्परा के अनुरूप जैन दर्शन भी लौकिक जीवन को दुःखमय मानते हुए दुःखों से आत्यंतिक निवृत्ति को ही अपना लक्ष्य मानता है।

आगम ही जैन परम्परा के वेद एवं पिटक हैं। ये अंग, उपांग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, चूळिका एवं प्रकीर्णकों में वर्गीकृत हैं। समस्त जैन सिद्धान्त बीजरूपा में इनमें निहित हैं। काल की दृष्टि से अंग प्राचीनतम हैं। वर्तमान उपलब्ध ११ अंगों में सूत्रकृतांग द्वितीय है। यह ग्रन्थ स्व-समय (स्व-सिद्धान्त) और पर-समय (पर-सिद्धान्त) का ज्ञान (सत्यासत्य दर्शन) कराने वाला शास्त्र है।^१ श्रुतपारगामी आचार्य भद्रबाहु ने इसे श्रुत्वाकृत' = सूतकडं अर्थात् तीर्थकर-वाणी सुनकर गणधरों द्वारा शास्त्र-रूप प्रदत्त बताया है। इसमें तत्कालीन अन्य दार्शनिक मतों की युक्तिरहित अयथार्थ मान्यताओं का उल्लेख तथा निरसन तो किया गया है परन्तु किसी मत के प्रवर्तक का नामोल्लेख नहीं है। मिथ्या व अयथार्थ धारणाओं को बन्धन मानकर साधक को सत्य का यथार्थ परिबोध कराना शास्त्रकार का मुख्य ध्येय है। सूत्रकृतांग की प्रमुख विशेषता दर्शन के साथ जीवन व्यवहार का उच्च आदर्श स्थापित करना है।

प्रस्तुत निबंध में हम सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन

१. सूत्रकृतांग नियुक्ति, गाथा—१८-२० तथा उनकी शीलांक वृत्ति

के आरम्भिक चार उद्देशकों में निहित दार्शनिक मान्यताओं एवं सिद्धान्तों का अनुशीलन करेंगे। वे इस प्रकार हैं—बंधन का स्वरूप, पंचमहाभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, क्षणिकवाद, सांख्यादिमत की निस्सारता नियतिवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद, जगत्कृत्ववाद, अवतारवाद, स्वस्वप्रवाद-प्रशंसा, मुनिधर्मोपदेश, लोकवाद, अहिंसा महाव्रत एवं चारित्र्यशुद्धि-उपाय।

सूत्रकृतांग^१ की आदि गाथा के चार पदों में ग्रन्थ के सम्पूर्ण तत्त्वचिंतन का सार समाविष्ट है—

बंधनं परिजाणिया = बंधन को जानकर

बुज्जेज्ज तिउट्टेज्जा = समझो और तोड़ो

किमाह बंधणं वीरे = भगवान ने बंधन किसे बताया है ?

किं वा जाणं तिउट्टइ = और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ?

वस्तुतः इन पदों में दर्शन और धर्म, विचार और आचार बीजरूप में सन्निहित हैं। शास्त्रकार ने आदिपद में बोध-प्राप्ति का, जिसका तात्पर्य आत्मबोध से है, उपदेश किया है। बोध-प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है, यह तथ्य सूत्रकृतांग, आचारांग, उत्तराध्ययन^२ आदि ग्रन्थों में भी परिलक्षित होता है। बोध-प्राप्ति एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों को दुर्लभ है। आर्यक्षेत्र, उत्तमकुलोत्पन्न, परिपूर्ण इन्द्रियाँ, परिपूर्ण अंगोपांग एवं स्वस्थ सशक्त शरीर से युक्त दीर्घायुष्य को प्राप्त मनुष्य ही केवल बोधिप्राप्ति का अधिकारी है। आत्म बोध का अर्थ है—‘मैं कौन हूँ’ ? मनुष्य लोक में कैसे आया ? आत्मा तत्त्वतः बंधन-रहित होते हुए इस भी प्रकार के बंधन में क्यों पड़ी ? बंधनों को कौन और कैसे तोड़ सकता है ? आदि।

बंधन का स्वरूप—संसारी आत्मा कर्मों से जकड़ी होने के कारण परतन्त्र है, इसी परतन्त्रता का नाम बंध है।^३ उमास्वाति ने

१. सूत्रकृतांग गाथा १ (सं० व अनु० मधुकर मुनि, आगम प्रकाशन समिति, व्यावर, राजस्थान, १९८२)

२. उत्तराध्ययनसूत्र-८।१५

३. बध्यतेऽनेन बन्धनमालं वा बन्धः—तत्त्वार्थवातिक, भाग १, पृ० २६
भट्ट अकलंकदेव, सम्पा० महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
वि० नि० सं० २४९९

तत्त्वार्थसूत्र^१ में 'कषाय-युक्त जीव द्वारा कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करना बंध है' ऐसा कहा है। तत्त्वार्थवृत्तिकार अकलंकदेव के अनुसार आत्मप्रदेशों के साथ जो कर्म क्षीर-नीरवत एक होकर स्थित हो जाते हैं, रहते हैं या बँध जाते हैं, वे बंधन या बंध कहलाते हैं।^२ अकलंक देव के अनुसार सामान्य की अपेक्षा से बंध के भेद नहीं किये जा सकते अर्थात् इस दृष्टि से बंध एक ही प्रकार का है। किन्तु विशेष की अपेक्षा से बंध दो प्रकार का है—(i) द्रव्यबंध और (ii) भावबंध।^३

द्रव्यबंध—ज्ञानावरणादि कर्म—पुद्गल प्रदेशों का जीव के साथ संयोग द्रव्यबंध है।^४

भावबंध—आत्मा के अशुद्ध चेतन परिणाम (भाव) मोह, राग-द्वेष और क्रोधादि जिनसे ज्ञानावरणादि कर्म के योग्य पुद्गल परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं, भावबंध कहलाता है।^५ आचार्य नेमिचन्द्र कर्मबंध के कारणभूत चेतन परिणाम को भावबंध मानते हैं।^६

कर्मबंध के कारण—जैन दर्शन में बंध के कारणों की संख्या के विषय में मतैक्य नहीं है, कारण एक ओर आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार^७ में वैदिक दर्शनों की तरह अज्ञान को ही बंध का प्रमुख कारण बतलाया है तो दूसरी ओर स्थानांग, समवायांग एवं तत्त्वार्थ-

१. स कषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः ।—तत्त्वार्थसूत्र ८।२
२. पं० सुखलाल संघवी, भारत जैन महा मण्डल, वर्धा, १९५२
३. तत्त्वार्थवार्तिक—२।१०।२ पृ० १२४
४. आत्मकर्मणोरन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशात्मको बन्धः । सर्वार्थसिद्धि (पूज्यपादाचार्य सं० व अनु० फूलचन्द-सिद्धान्तशास्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्रथमावृत्ति सन् १९५५) १।४ पृ० १४
५. क्रोधादिपरिणामवशीकृतो भावबन्धः—तत्त्वार्थवार्तिक—२।१०० पृ० १२४
६. द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्राचार्य, प्रका० श्री परमश्रुत प्रभावक मंडल वि० नि० सं० २४३३
७. समयसार (आत्मख्याति-तात्पर्यवृत्ति भाषावचनिका टीका सहित) कुन्दकुन्दाचार्य, सम्पा० पन्नालाल जैन प्रका० परमश्रुत प्रभावक मंडल, बोरिया द्वितीयावृत्ति, सन् १९७४ गाथा—१५३, आत्मख्याति टीका—गा० १५३

सूत्र में कर्म-बन्ध के पांच कारण माने गये हैं, जो अधिक प्रचलित हैं—

- (i) मिथ्यादर्शन (ii) अविरति (iii) प्रमाद
(iv) कषाय (v) योग ।

(i) मिथ्यादर्शन—जो वस्तु जैसी है, उसे उस रूप में न मानकर विपरीत रूप में मानना या ग्रहण करना मिथ्यात्व है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन का उल्टा मिथ्यादर्शन है। भगवतीआराधना^१ एवं सर्वार्थसिद्धि में भी जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन बताया गया है।

(ii) अविरति—विरति का अभाव ही अविरति है। सर्वार्थसिद्धिकार ने विरति का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह ये पांच त्याज्य हैं; अतः हिंसा आदि पांच पापों को नहीं छोड़ना या अहिंसादि पांच व्रतों का पालन न करना अविरति है।^२ सूत्रकृतांग की चौथी व पाँचवी गाथा में जीव को परिग्रह के दो रूप—सचेतन एवं अचेतन से सचेत किया गया है। मनुष्य, पशु-पक्षी आदि प्राणियों में आसक्ति रखना सचेतन परिग्रह व सोना-चाँदी, रुपया-पैसा में आसक्ति रखना अचेतन परिग्रह है। परिग्रह चूँकि कर्म बंध का मूल है इसलिए वह दुःख रूप है।

(iii) प्रमाद—प्रमाद का अर्थ है आलस्य का होना, क्रोधादि कषायों के कारण अहिंसा आदि के आचरण में जीव की रुचि नहीं होती। वीरसेन ने क्रोध, मान, माया और लोभरूप-कषायों और हास्य आदि नौ उप-कषायों के तीव्र उदय होने को प्रमाद कहा है।^३

(iv) कषाय—आत्मा के कलुष परिणाम जो कर्मों के बन्धन के कारण होते हैं, कषाय कहलाते हैं।^४

१. तं-मिच्छतं जमसद्दहणं तच्चान होइ अत्याणं । भगवतीआराधना, गाथा ५६
आचार्य शिवकोटि, (संपा० सखाराम दोषी, जीवराज जैन ग्रन्थमाला
शोलापुर प्र० सं० सन् १९३५)

२. सर्वार्थसिद्धि—७।१

३. धवला, वीरसेन, खं० २ भाग १ सूत्र ७ पृ० ७

(हिन्दी अनुवाद सहित अमरावती प्र० सं० १९३९-५९)

४. सर्वार्थसिद्धि ६।४, पृ० ३२०

(v) योग—मन, वचन और काय से होने वाला आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन योग है।^१ इन्हीं के कारण कर्मों का आत्मा के साथ संयोग होता है।

बंध-उच्छेद—'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' अर्थात् जैन दर्शन मुक्ति हेतु ज्ञान व क्रिया दोनों को आवश्यक मानता है। कर्मबन्ध उच्छेद हेतु दो विधियों का प्रतिपादन किया गया है—(i) नवीन कर्मबन्ध को रोकना संवर^२ एवं (ii) आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को, उनके विपाक के पूर्व ही तपादि द्वारा अलग करना निर्जरा है। संवर व निर्जरा से कर्मबंध का उच्छेद हो जाना ही मोक्ष है।

पंचमहाभूतवाद या भूतचैतन्यवाद—

गाथा संख्या सात व आठ में वर्णित इस मत का नामोल्लेख नहीं है। निर्युक्तिकार इसे चार्वाक-मत कहते हैं। अवधेय है कि ४ तत्त्व— १. पृथ्वी, २. जल, ३. तेज और ४. वायु को मानना प्राचीन लोकायतों का मत है, जबकि अर्वाचीन चार्वाक मतानुयायी पृथ्वी, जल, तेज वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों को मानते हैं। ये पांच महाभूत सर्वलोकव्यापी एवं सर्वजन प्रत्यक्ष होने से महान् हैं। इनका अस्तित्व व्यपदेश-खण्डन से परे है। इस प्रकार सूत्रकृतांग में अपेक्षाकृत अर्वाचीन चार्वाकों का मतोल्लेख है। यद्यपि सांख्य व वैशेषिक दार्शनिक भी पंचमहाभूतों को मानते हैं परन्तु ये चार्वाकों के समान इन पंचमहाभूतों को ही सब कुछ नहीं मानते। सांख्य-मत पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय एवं पंचतन्मात्राओं की सत्ता स्वीकारता है। वैशेषिक दिशा, काल, आत्मा, मन आदि अन्य पदार्थों की भी सत्ता मानता है। चार्वाक दार्शनिक पृथ्वी आदि पंचमहाभूतों के शरीर-रूप में परिणित होने के कारण चैतन्य की उत्पत्ति भी इन्हीं पंचमहाभूतों से मानते हैं। उनकी मान्यता है कि जिस प्रकार

१. सर्वार्थसिद्धि—२।२६, पृ० १८३

२. तत्त्वार्थसूत्र—९।१

३. पुव्वकदकम्म सडणं तु णिज्जरा—भगवतीआराधना-गाथा १८४७

गुड़, महुआ आदि के संयोग से मद्शक्ति उत्पन्न हो जाती है^१। उसी प्रकार इन भूतों के संयोग से चैतन्य उत्पन्न हो जाता है। चूँकि ये भौतिकवादी प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं मानते, इसलिये दूसरे मतवादियों द्वारा मान्य इन पंचमहाभूतों से भिन्न परलोकगामी और सुख-दुःख के भोक्ता किसी आत्मा संज्ञक पदार्थ को नहीं मानते। इस अनात्मवाद से ही—शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मनसात्मवाद, प्राणात्मवाद एवं विषयचैतन्यवाद फलित है, जिसे कतिपय चार्वाक दार्शनिक मानते हैं।

तज्जीवतच्छरीरवाद—तज्जीव-तच्छरीरवाद^२ चार्वाकों के अनात्मवाद का फलित रूप है। ये मानते हैं कि वही जीव है, वही शरीर है।^३ पंचमहाभूतवादीमत में पंचमहाभूत ही शरीर के रूप में परिणित होकर दौड़नेवाला, बोलनेवाला आदि सभी क्रियायें करते हैं जबकि तज्जीवतच्छरीरवादी पंचभूतों से परिणित शरीर से ही चैतन्यशक्ति की उत्पत्ति मानता है। शरीर से आत्मा को वह अभिन्न मानता है। इस मत में शरीर के रहने तक ही अस्तित्व है। शरीर के विनष्ट होते ही पंचमहाभूतों के बिखर जाने से आत्मा का भी नाश हो जाता है। शरीर के विनष्ट होने पर उससे बाहर निकलकर कहीं अन्यत्र जाता हुआ चैतन्य प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता; इसलिए कहा गया है कि—ण ते संति-^४ अर्थात् मरने के बाद आत्मायें परलोक में नहीं जातीं।

निर्युक्तिकार दोनों मतों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि पंचमहाभूतों से चैतन्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि इनमें से किसी का भी गुण चैतन्य नहीं है। अन्य गुण वाले पदार्थों के संयोग से अन्य

१. सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्य, पृ० १० (चौखम्भा संस्कृत सिरीज, वाराणसी)
२. सूत्रकृतांग—१।१।११-१२, पृ० २५
३. वही, पृ० २६
४. वही, पृ० २६

गुण वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।^१ शास्त्रवार्तासमुच्चय^२ में हरिभद्र एवं तत्त्वार्थवार्तिक में अकलंकदेव ने कहा है कि यदि सुखादि चैतन्य शरीर के धर्म हैं तो मृत शरीर में भी रूपादि गुणों की भाँति चेतना विद्यमान होनी चाहिए, पर ऐसा नहीं है । शरीरात्म-वादि्यों के 'किण्वादिभ्योमदशकितवत्' के दृष्टान्त की विषमता सिद्ध करते हुये कहा गया है कि मदिरा के घटक में ही मदिरा रहती है परन्तु किसी भी भूत में चैतन्य नहीं रहता । अतः यह मत असंगत है । निर्युक्तिकार का कथन है कि यदि देह के विनाश के साथ आत्मा का विनाश माना जाय तो मोक्षप्राप्ति के लिए किये जाने वाले ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, संयम, व्रत, नियम, साधना आदि निष्फल हो जायेंगे । अतः पंचमहाभूतवाद का सिद्धान्त मिथ्याग्रस्त एवं अज्ञानमूलक है ।

एकात्मवाद^३—वेदान्ती ब्रह्म के अतिरिक्त समस्त पदार्थों को अपत्य मानते हैं, दूसरे शब्दों में चेतन-अचेतन सब ब्रह्म (आत्मा) रूप है ।^४ शास्त्रकार कहते हैं कि नाना रूप में भासित पदार्थों को भी एकात्मवादी दृष्टान्त द्वारा आत्मरूप सिद्ध करते हैं । जैसे पृथ्वी समुदाय रूप पिण्ड एक होते हुये भी नदी, समुद्र, पर्वत, नगर, घट आदि के रूप में नाना प्रकार का दिखाई देता है, किन्तु इन सब भेदों के बावजूद इनमें व्याप्त पृथ्वी तत्त्व का भेद नहीं होता । उसी प्रकार एक ज्ञान-पिण्ड आत्मा ही चेतन-अचेतन रूप समग्रलोक में पृथ्वी, जल आदि भूतों के आकार में नानाविध दिखाई देता है, परन्तु आत्मा के स्वरूप में कोई भेद नहीं होता । ये प्राणातिपात हिंसा में आसक्त स्वयं पाप करके दुःख को आमंत्रित करना है क्योंकि एकात्मवाद की कल्पना युक्ति-रहित है । अनुभव से यह सिद्ध है कि साबच्च अनुष्ठान करने में

१. प्रमेयरत्नमाला ४।८, पृ० २९६ (लघु अनन्तवीर्य, व्याख्याकार, सम्पा० हीरालाल जैन, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी—वि० सं० २०२०)
२. शास्त्रवार्तासमुच्चय—१।६५-६६ हरिभद्रसूरि, भारतीयसंस्कृतविद्या मन्दिर (अहमदाबाद-१९६९)
तत्त्वार्थवार्तिक २।७।२७, पृ० ११७ ।
३. सूत्रकृतांग १।१।९-१०
४. सर्वमेतदिदं ब्रह्म—छा० उ० ३।१।४।१;
ब्रह्मखल्विदं सर्वम्—मैत्रेयुपनिषद् ४।६।३

जो आसक्त रहते हैं, वही पापकर्म के फलस्वरूप नरकादि को भोगते हैं, दूसरे नहीं ।

अकारकवाद या अकर्तृत्ववाद^१—सांख्य-योगमतवादी आत्मा को अकर्ता मानते हैं । उनके मत में आत्मा या पुरुष अपरिणामी एवं नित्य होने से कर्ता नहीं हो सकता । शुभ-अशुभ कर्म प्रकृति-कृत होने से वही कर्ता है । आत्मा अमूर्त्त, कूटस्थ, नित्य एवं स्वयक्रियाशून्य होने से कर्ता नहीं हो सकता ।^२ शास्त्रकार की इसके विरुद्ध आपत्ति इस प्रकार है—

आत्मा को एकान्त, कूटस्थ, नित्य, अमूर्त्त, सर्वव्यापी एवं निष्क्रिय मानने पर प्रत्यक्ष दृश्यमान, जन्ममरणरूप या नरकादि गमन-रूप यह लोक सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि कूटस्थ नित्य आत्मा एक शरीर व योनि को छोड़कर दूसरे शरीर व योनि में संक्रमण नहीं कर सकेगा । साथ ही एक शरीर में बालक, वृद्ध, युवक आदि पर्यायों को धारण करना भी असम्भव होगा । वह आत्मा सर्वदा कूटस्थ नित्य होने पर विकार रहित होगा और बालक तथा मूर्ख सदैव बालक व मूर्ख ही बना रहेगा, उसमें किसी नये स्वभाव की उत्पत्ति नहीं होगी । ऐसी स्थिति में जन्ममरणादि दुःखों का विनाश, उसके लिए पुरुषार्थ, एवं कर्मक्षयार्थ, जप-तप, संयम-नियम आदि की साधना सम्भव नहीं होगी । सांख्य के प्रकृति कर्तृत्व एवं पुरुष के भोक्ता होते हुए भी कर्ता न मानने को ले कर अनेक जैनाचार्यों ने इस सिद्धान्त को अयुक्तियुक्त बताया है ।^३

आत्मषष्ठवाद^४—आत्मषष्ठवाद वेदवादी सांख्य व वैशेषिकों का मत है । प्रो० हर्मन जैकोबी इसे चरक का मत मानते हैं । इनके अनुसार अचेतन पंचमहाभूत एवं सचेतन आत्मा ये छः पदार्थ हैं । आत्मा

१. सूत्रकृतांग १।१।१३-१४

२. अमूर्त्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः अकर्तानिर्गुणः सूक्ष्म आत्मा कपिल दर्शने । षड्दर्शनं समुच्चय । (गुणरत्नसूरिकृत रहस्य दीपिका सहित) : हरिभद्रसूरि, सं० महेन्द्र कुमार जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७०

३. तत्वार्थ वातिक २।१०१

४. सन्ति पंचमहब्भूता इहमेगेसि आहिता ।

आयच्छट्ठा पुणेगाऽऽहु आया लोगे य सःसते । सूत्रकृताङ्ग सू० १।१।१५

और लोक दोनों नित्य हैं। इन छः पदार्थों का सहेतुक या अहेतुक किसी प्रकार से विनाश नहीं होता। इनके मत में असत् की कभी उत्पत्ति नहीं होती और सत् का कभी विनाश नहीं होता एवं सभी पदार्थ सर्वदा नित्य हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'उदान' में आत्मा और लोक को शाश्वत मानने वाले कुछ श्रमण-ब्राह्मणों का उल्लेख है। बौद्धदर्शन में पदार्थ की उत्पत्ति के पश्चात् तत्काल ही निष्कारण विनाश होना माना जाता है। अतः उत्पत्ति के अतिरिक्त विनाश का कोई अन्य कारण नहीं है। आत्मषष्ठवादी इस अकारण विनाश को नहीं मानते और न ही वैशेषिक दर्शन के अनुसार बाह्य कारणों से माने जाने वाले सहेतुक विनाश को ही मानते हैं। तात्पर्यतः आत्मा या पंच-भौतिक लोक अकारण या सकारण दोनों प्रकार से विनष्ट नहीं होते। ये चेतनाचेतनात्मक दोनों कोटि के पदार्थ अपने-अपने स्वभाव से अच्युत रहकर सर्वदा नित्य रहते हैं।

भगवद्गीता^१ में आत्मा की त्रिकालाबाधित नित्यता को बताते हुये कहा गया है कि 'जो असत् है वह हो ही नहीं सकता और जो है (सत्) उसका अभाव नहीं हो सकता। इसी प्रकार सांख्य सत्कार्यवाद^२ के आधार पर आत्मा और लोक की नित्यता सिद्ध करता है।

जैनदर्शन की मान्यता है कि सभी पदार्थों को सर्वथा या एकान्त नित्य मानना यथार्थ नहीं है। इसलिये आत्मा को एकान्त नित्य सत् या असत् मानना असंगत है, क्योंकि ऐसा मानने से आत्मा में कर्तृत्व परिणाम उत्पन्न नहीं हो सकता। कर्तृत्व के अभावमें कर्मबन्धन न होने से सुख-दुःख रूप कर्मफल भोग भी नहीं हो सकता। अतः आत्मा, पंचभूत आदि सभी पदार्थों को कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य तथा किसी अपेक्षा से सत् एवं किसी अपेक्षा से असत् अर्थात् सदसत्कार्य रूप न मानकर, एकान्त मिथ्या ग्रहण करना ही आत्मषष्ठवादियों का

१. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

उभयोरविप दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ भगवद्गीता २।१६
(गीता प्रेस, गोरखपुर, १९७५)

२. असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥ सां० का० ९

(गौडपाद भाष्य) : ईश्वर—कृष्ण. ह० कृ० चौ० काशी, वि० सां० १९७९.

मिथ्यात्व है। प्रत्येक पदार्थ द्रव्य रूप से सत् और पर्याय रूप से असत् या अनित्य है^१, ऐसा सत्यग्राही व्यक्ति मानते हैं। यहाँ शास्त्रकार ने अनेकान्तवाद की कसौटी पर आत्मषष्ठवादी सिद्धान्त को कसने का सफल प्रयास किया है।

क्षणिकवाद^२—बौद्धदर्शन का अनात्मवाद क्षणिकवाद एवं प्रतीत्यसमुत्पाद पर निर्भर है। यह अनात्मवाद सर्वथा तुच्छाभावरूप नहीं है क्योंकि आत्मवादियों की तरह पुण्य-पाप, कर्म-कर्मफल, लोक-परलोक पुनर्जन्म एवं मोक्ष की यहाँ मान्यता और महत्ता है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त^३ और मज्झिमनिकाय के सत्त्वासव्वसुत्त^४ के अनुसार महात्माबुद्ध के समय में आत्मवाद की दो विचार धाराएँ प्रचलित थीं—प्रथम शाश्वत आत्मवादी विचारधारा—जो आत्मा को नित्य एवं दूसरी उच्छेदवादी विचारधारा—जो आत्मा का उच्छेद अर्थात् उसे अनित्य मानती थी। बुद्ध ने इन दोनों का खण्डन कर अनात्मवाद का उपदेश किया, परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि उन्हें आत्मा में विश्वास नहीं था। वे आत्मा को नित्य और व्यापक न मानकर क्षणिक चित्त-संतति रूप में स्वीकार करते थे।

विमुद्धिमग्ग, सुत्तपिटकगत अंगुत्तरनिकाय आदि बौद्ध ग्रंथों के अनुसार क्षणिकवाद के दो रूप हैं—एक मत रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पंचस्कन्धों से भिन्न या अभिन्न सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष व ज्ञानादि के आधारभूत आत्मा नाम का कोई पदार्थ नहीं मानता है। इन पंचस्कन्धों से भिन्न आत्मा का न तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है, न ही आत्मा के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला कोई लिंग भी गृहीत होता है, जिससे आत्मा अनुमान द्वारा जानी जा सके। ये पंचस्कन्ध क्षणभोगी हैं, न तो ये कूटस्थ नित्य हैं और न ही कालान्तर

१. सूत्रकृतांग की शीलाकवृत्ति पत्रांक २४-२५

२. सूत्रकृतांग सूत्र—१।१।१७-१८

३. दीघनिकाय १।१ (अनुवाद भिक्षु राहुल सांकृत्यायन, एव जगदीश कश्यप प्रका० भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद् बुद्धविहार, लखनऊ)

४. मज्झिमनिकाय—१।१।२

५. महावग्ग—१।६ पृ० ११-१६ (संप्पा० भिक्खुजगदीशकश्यपो, विहार राजकीयेन पालिपकासन मंडलेन प्रकाशिता सन् १९५६)

स्थायी, बल्कि क्षणमात्र स्थायी हैं। ये सत् हैं इसीलिए क्षणिक हैं, सत् का लक्षण अर्थ क्रिया-कारित्व है एवं जो सत् है वही क्षणिक है।

क्षणिकवाद का दूसरा रूप इन चार धातुओं—पृथ्वी जल, तेज और वायु को स्वीकार करता है। ये चारों जगत् का धारण-पोषण करते हैं इसलिये धातु कहलाते हैं।^१ वे चारों एकाकार होकर भूतसंज्ञक रूप स्कंध बन जाते हैं एवं शरीर रूप में जब परिणित हो जाते हैं तब इनकी जीव संज्ञा होती है। जैसा कि वे कहते हैं—‘यह शरीर चार धातुओं से बना है इनसे भिन्न आत्मा नहीं है। यह भूतसंज्ञक रूपस्कंध-मय होने के कारण पंचस्कन्धों की तरह क्षणिक है।’ यह चातुर्धातुक-वाद भी क्षणिकवाद का ही एक रूप है जो सूतपिटक के मज्झिम-निकाय में वर्णित है।

वृत्तिकार शीलांक के अनुसार ये सभी बौद्ध मतवादी अफलवादी हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद के अनुसार पदार्थ, आत्मा और सभी क्रियाएँ क्षणिक हैं। इसलिए क्रिया करने के क्षण में ही कर्त्ता आत्मा का समूल विनाश हो जाता है, अतः आत्मा का क्रियाफल के साथ कोई संबन्ध नहीं रहता। जब फल के समय तक आत्मा भी नहीं रहती और क्रिया भी उसी क्षण नष्ट हो गयी तो ऐहिक-पारलौकिक क्रिया-फल का भोक्ता कौन होगा? पंचस्कन्धों या पंचभूतों से भिन्न आत्मा न होने पर आत्मा रूप फलोपभोक्ता नहीं होगा ऐसी स्थिति में सुख-दुखादि फलों का उपभोग कौन करेगा? साथ ही आत्मा के अभाव में बंध-मोक्ष, जन्म-मरण, लोक-परलोकागमन की व्यवस्था गड़बड़ हो जायेगी और शास्त्रविहित समस्त प्रवृत्तियाँ निरर्थक हो जायेगी।

शास्त्रकार जैनदर्शनसम्मत आत्मा की युक्ति-युक्तता के विषय में कहते हैं कि यह परिणामी नित्य, ज्ञान का आधार, दूसरे भवों में आने-जाने वाला, पंचभूतों से कथंचित् भिन्न तथा शरीर के साथ रहने से कथंचित् अभिन्न है। वह स्वकर्मबन्धों के कारण विभिन्न नरकादि गतियों में संक्रमण करता रहता है इसलिये अनित्य एवं सहेतुक भी है।

१. ‘‘पुन च परं भिक्खवे, भिक्खु, इममेव कायं यथाठितं यथापणिहितं धातुसोपच्चवेक्खति—अत्थि इमस्मिकाये पथवी धातु, आपोधातु, तेजो-धातु, वायुधातु ति-सुत्तपिटक मज्जि० पालि भाग ३, पृ० १५३

आत्मा के निज स्वरूप का कथमपि नाश न होने कारण वह नित्य और अहेतुक भी है। ऐसा मानने में कर्त्ता को क्रिया का सुख व दुःखादिरूप फल भी प्राप्त होगा एवं बन्ध-मोक्षादि व्यवस्था की उपपत्ति भी हो जायेगी।

सांख्यादिमतनिस्सारता एवं फल श्रुति^१—सांख्यादि दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित मुक्ति-उपाय की आलोचना करते हुये शास्त्रकार का मत है कि पंचभूतात्मवादी से लेकर चातुर्धातुकवादी पर्यन्त सभी दर्शन सबको सर्वदुःखों से मुक्ति का आश्वासन देते हैं। प्रश्न यह है कि क्या उनके दार्शनिक मन्तव्यों को स्वीकार कर लेना ही दुःख-मुक्ति का प्रथम मार्ग है? कदाचित् नहीं। बल्कि महावीर द्वारा प्ररूपित सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं तप द्वारा कर्म-क्षय कर कर्म-बन्ध के कारणों—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय, प्रमाद एवं योग से दूर रहना ही सर्वदुःख-मुक्ति का मार्ग है। उपरोक्त मतवादी स्वयं दुःखों से आवृत्त हैं क्योंकि वे संधि^२ को जाने बिना क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं, परिणामस्वरूप धर्म-तत्त्व से अनभिज्ञ रहते हैं। जब तक जीवन में कर्मबन्ध का कारण रहेगा तब तक मनुष्य चाहे पर्वत पर चला जाये या कहीं रहे—वह जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधि, गर्भवासरूप संसारचक्र परिभ्रमण के महादुःखों का सर्वथा उच्छेद नहीं कर सकता।^३ ऐसे जीव ऊँच-नीच गतियों में भटकते रहते हैं क्योंकि एक तो वे स्वयं उक्त मिथ्यावादों के कदाग्रहरूप मिथ्यात्व से ग्रस्त हैं, दूसरे हजारों जन-समुदाय के समक्ष मुक्ति का प्रलोभन देकर उन्हें मिथ्या व विष का पान कराते हैं।

नियतिवाद^४—नियतिवाद आजीवकों का सिद्धान्त है। मंख-लिमुत्तगोशालक नियतिवाद एवं आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक था।

१. सूत्रकृतांग—१।१।१९-२७

२. तेणाविमं संधि णच्चा णं ण ते धम्मविउजणा ।

जे तु वाइगो एवं ण ते ओहंतराऽऽहिया ॥ वही १।१।२०

३. सूत्रकृतांग, शीलांक वृत्ति २८

४. सूत्रकृतांगसूत्र १।२।२८-३१, गोम्मटसार कर्मकण्ड—८९२ (प्रका० परमश्रत प्रभावक जैन मण्डल बम्बई, वी०नि०सं० २४५३)

सूत्रकृतांग के प्रथमश्रुतस्कन्ध में गोशालक या आजीवक का नामो-ल्लेख नहीं है, परन्तु उपासकदशांग के सातवें अध्ययन के सहालपुत्र एवं कुण्डकोलिय प्रकरण में गोशालक और उसके मत का स्पष्ट उल्लेख है। इस मतानुसार उत्थान, कर्मबल, वीर्य, पुरुषार्थ आदि कुछ भी नहीं है। सब भाव सदा से नियत है। बौद्धग्रंथ दीघनिकाय, संयुक्त-निकाय आदि में तथा जैनागम स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, औपपातिक आदि में भी आजीवक मतप्रवर्तक नियतिवादी गोशालक का वर्णन उपलब्ध है।^१

नियतिवादी जगत् में सभी जीवों का पृथक् व स्वतन्त्र अस्तित्व मानते हैं। परन्तु आत्मा को पृथक्-पृथक् मानने पर जीव स्वकृत कर्मबंध से प्राप्त सुख-दुःखादि का भोग नहीं कर सकेगा और न ही सुख-दुःख भोगने के लिये अन्य शरीर, गति तथा योनि में संक्रमण कर सकेगा। शास्त्रवार्तासमुच्चय में कहा गया है कि चूँकि संसार के सभी पदार्थ स्व-स्व नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं अतः ये सभी पदार्थ नियति से नियमित होते हैं। यह समस्त चराचर जगत् नियति से बंधा हुआ है। जिसे, जिससे, जिस रूप में होना होता है, वह उससे, उसी समय, उसी रूप में उत्पन्न होता है। इस प्रकार अबाधित प्रमाण से सिद्ध इस नियति की गति को कौन रोक सकता है? कौन इसका खंडन कर सकता है? नियतिवादी काल, स्वभाव, कर्म और पुरुषार्थ आदि के विरोध का भी युक्तिपूर्वक निराकरण करता है। नियतिवादी एक ही काल में दो पुरुषों द्वारा सम्पन्न एक ही कार्य में सफलता-असफलता, सुख-दुःख का मूल नियति को ही मानते हैं। इस प्रकार नियति ही समस्त जागतिक पदार्थों का कारण है।^२

सूत्रकृतांगकार उक्त मत का खण्डन करते हुये कहते हैं कि नियति-वादी यह नहीं जानते कि सुख-दुःखादि सभी नियतिकृत नहीं होते। कुछ सुख-दुःख नियतिकृत होते हैं, क्योंकि उन-उन सुख-दुःखों के कारण-रूप कर्म का अबाधा काल समाप्त होने पर अवश्य उदय होता ही है,

१. जैनसाहित्य का बृहद इतिहास, भाग २, पृ० १३८

२. नियतेनैव भावेण सर्वेभावा भवन्ति यत् ।

ततो नियतिजा ह्येते तत्स्वरूपानुबेधतः ॥ शास्त्रवार्तासमुच्चय २।६१

जैसे—निकाचित कर्म^१ का, परन्तु अनेक सुख-दुख पुरुष के उद्योग, काल, स्वभाव और कर्म द्वारा किये हुये होते हैं और नियत नहीं होते। अतः केवल नियति ही समस्त वस्तुओं का कारण है, ऐसा मानना कथमपि युक्तिसंगत नहीं है। काल, स्वभाव, अदृष्ट, नियति और पुरुषार्थ ये पाँचों कारण प्रत्येक कार्य या सुखादि में परस्पर सापेक्ष सिद्ध होते हैं, अतः एकान्त रूप में केवल नियति को मानना सर्वथा दोषयुक्त है।

अज्ञानवाद स्वरूप^२—शास्त्रकार एकान्तवादी, मंशयवादी तथा अज्ञानमिथ्यात्वग्रस्त अन्य दर्शनिकों को वन्यमृग की संज्ञा देते हुये एवं अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में उनके सिद्धान्तों की समीक्षा करते हुये कहते हैं कि एकान्तवादी, अज्ञानमिथ्यात्वयुक्त अनार्य श्रमण सम्यग्ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य से पूर्णतः रहित हैं। वे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य, अहिंसा, सत्य, अनेकान्त, अपरिग्रह आदि सन्दर्भों से शंकाकुल होकर उनसे दूर भागते हैं।^३ सद्धर्मप्ररूपक वीतराग के सान्निध्य से कतराते हैं। सद्धर्मप्ररूपक शास्त्रों पर शंका करते हुये वे हिंसा, असत्य, मिथ्यात्व एकान्तवाद या विषय कषायादि से युक्त अधर्म प्ररूपणा को निःशंक होकर ग्रहण करते हैं तथा अधर्म प्ररूपकों की स्थापना करते हैं। यज्ञ और पशुबलिजनित घोर हिंसा की देशना वाले शास्त्रों को जिनमें कामनायुक्त कर्मकाण्डों का विधान है, हिंसा-जनक कार्यों की प्रेरणा है, निःशंक भाव से स्वीकार करते हैं। घोर पापकर्म में आबद्ध ऐसे लोग इस जन्म-मरण रूप संसार में बार-बार आवागमन करते रहते हैं। अज्ञानग्रस्त एवं सन्मार्ग-अभिज्ञ ऐसे अज्ञानवादियों के संसर्ग में आने वाले दिशामूढ़ हैं एवं दुःख को प्राप्त होंगे। संजय वेदठलिपुत्र^४ के अनुसार तत्त्व विषयक अज्ञेयता या अनिश्चितता ही अज्ञानवाद की आधारशिला है।

१. कर्म का जिस रूप में बन्ध हुआ उसको उसी रूप में भोगना अर्थात् उद्वर्तना, अपवर्तना, संक्रमण और उदीरण अवस्थाओं का न होना निकाचित कर्मावस्था कहलाती है। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, गाथा ४४०
२. सूत्रकृतांगसूत्र १।२।३३-५०
३. जाविणो मिगा जहासंता परिताणेण तज्जिया, असंकियाइ संकिति संकियाइ असंकियो। वही, १।२।३३
४. वही, पृ० ५१

अज्ञानवादियों के सन्दर्भ में दो प्रकार के मत मिलते हैं—एक तो वे अज्ञानवादी हैं जो स्वयं के अल्पमिथ्याज्ञान से गर्वोन्मत्त समस्त ज्ञान को अपनी विरासत मानते हैं, जबकि यथार्थतः उनका ज्ञान केवल पल्लवव्याही होता है। ये तथाकथित शास्त्रज्ञानी वीतराग सर्वज्ञ की अनेकान्तरूप तत्त्वज्ञान से युक्त, सापेक्षवाद से ओत प्रोत वाणी को गलत समझकर एवं उसे संशयवाद की संज्ञा देकर ठुकरा देते हैं।^१

दूसरे अज्ञानवादी अज्ञान को ही श्रेयस्कर मानते हैं। उनके मत में ज्ञानाभाव में वे वाद-विवाद, वितण्डा, संघर्ष, कलह, अहंकार, कषाय आदि के प्रपञ्च से बचे रहेंगे। वे मन में रागद्वेषादि उत्पन्न न होने देने का सबसे सरल उपाय ज्ञान-प्रवृत्ति को छोड़कर अज्ञान में ही लीन रहना मानते हैं। अज्ञान को श्रेयस्कर मानने वाले अज्ञानवादी सभी यथार्थ ज्ञानों से दूर रहना चाहते हैं—सबते भले मूढ़, जिन्हें न व्यापै जगत गति।

क्रियावाद या कर्मोपचय निषेधवाद^२—बौद्ध दर्शन को सामान्यतया अक्रियावादी दर्शन कहा गया है। बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय के तृतीय भाग-अट्ठक निपाण के सिंहसुत्त में तथा विनयपिटक के महावग्ग की सिंहसेनापतिवत्थु में बुद्ध के अक्रियावादी होने के उल्लेख हैं।^३ सूत्रकृतांग के बारहवें समवसरण अध्ययन में सूत्र ५३५ की चूर्णि एवं वृत्ति में बौद्धों को कहीं अक्रियावादी एवं कहीं क्रियावादी—दोनों कहा गया है, किन्तु इस विरोध का परिहार करते हुये कहा गया है कि यह अपेक्षा भेद से है। क्रियावादी केवल चैत्यकर्म किये जाने वाले (चित्तविशुद्धिपूर्वक) किसी भी कर्म आदि क्रिया को प्रधान रूप से मोक्ष का अंग मानते हैं। बौद्ध चित्तशुद्धिपूर्वक सम्पन्न प्रभूत हिंसा युक्त क्रिया को एवं अज्ञानादि से किये गये निम्न चार प्रकार के कर्मो-

१. सूत्रकृतांगसूत्र, पृ० ३३

२. वही १।२।५१-५६

३. अहं हि सीह । अकिरियं वदामि कापदुच्चरितस्म वचीदुच्चरितस्य, मनो-दुच्चरितस्य अनैक विहितानां पापकानां अकुसलानां अकिरियं वदामि । सुत्तपिटके अंगुत्तर निकाय, पालि भाग ३, अट्ठकनिपात पृ० २९३-९६

पचय को बन्ध का कारण नहीं मानते और कर्मचिन्ता से परे रहते हैं ।

(i) परिज्ञोपचित कर्म—जानते हुये भी कोपादि या क्रोधवश शरीर से अकृत केवल मन से चिंतित हिंसादि कर्म ।

(ii) अविज्ञोपचित कर्म :—अज्ञानवश शरीर से सम्पन्न हिंसादि कर्म ।

(iii) इर्यापथ कर्म—मार्ग में जाते समय अनभिसंधि से होने वाला हिंसादि कर्म ।

(iv) स्वप्नान्तिक कर्म—स्वप्न में होने वाले हिंसादि कर्म ।

बौद्धों के अनुसार ऐसे कर्मों से पुरुष स्पृष्ट होता है, बद्ध नहीं, क्योंकि ये चारों कर्म स्पर्श के बाद ही नष्ट हो जाते हैं । इसीलिये बौद्ध इन कर्मग्रन्थियों से निश्चिन्त होकर क्रियाएँ करते हैं ।^१ बौद्ध राग-द्वेष रहित बुद्धिपूर्वक या विशुद्धमन से हुये शारीरिक प्राणातिपात को भावविशुद्धि होने के कारण कर्मोपचय नहीं मानते ।^२ बौद्धग्रन्थ सुत्त-पिटक के खुट्टकनिकाय बालोवाद जातक में बुद्ध कहते भी हैं कि—विपत्ति के समय पिता द्वारा पुत्र का वध कर स्वयं उसका भक्षण तथा मेधावी भिक्षु द्वारा उक्त मांशासन पापकर्म का कारण नहीं है ।

सूत्रकार बौद्धों के तर्क को असंगत मानते हैं क्योंकि राग-द्वेषादि से युक्त चित्त विना मारने की क्रिया ही नहीं सकती । मैं पुत्र को मारता हूँ ऐसे चित्तपरिणाम को कथमपि भी असंक्लिष्ट नहीं माना जा सकता ।^३

अतः कर्मोपचय निषेधवादी बौद्ध कर्मचिन्ता से रहित है तथा संयम एवं संवर के विचार से किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होते, ऐसा शास्त्रकार का बौद्धों पर आक्षेप है ।

१. सूत्रकृतांगचूणि मू० पा० टि०—पृ० ९

२. पुत्रं पिता समारंभ आहारट्ठ असंजये ।

भुजमाणो वि मेहावी कम्मणा णो व लिप्पते ॥

सूत्रकृतांगसूत्र १.२।५५

३. सूत्रकृतांग शीलांकवृत्ति पत्रांक ३७-४०

परवादी निरसन^१—इन्द्रियसुखोपभोग एवं स्वसिद्धान्त को सर्वोपरि मानने वाले दार्शनिक मतवादों की ग्रन्थकार भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि ये एकान्त दर्शनों, दृष्टियों, वादों को सत्य मानकर उनकी शरण लेकर एवं कर्मबंधों से निश्चिन्त होकर एवं पाप कर्मों में आसक्त हो आचरण करते हैं। इनकी गति संसार-सागर पार होने की आशा में मिथ्यात्व, अविरति आदि छिद्रों के कारण कर्मजल प्रवृष्ट हो जाने वाली मिथ्यादृष्टियुक्तिमत नौका में आरूढ़ मतमोहान्ध व्यक्ति की होती है, जो बीच में ही डूब जाते हैं^२ अर्थात् मिथ्यात्व युक्तिमत सछिद्र नौका के समान है और इसका आचरण करने वाला व्यक्ति जन्मान्ध के समान है।

आधाकर्मदोष^३—सूत्रकृतांग की ६० से ६३ तक की गाथाएं निर्ग्रन्थ-आहार से सम्बद्ध हैं। श्रमणाहार के प्रसंग में इसमें आधा-कर्मदोष से दूषित आहार सेवन से हानि एवं आहारसेवी की दुर्दशा का निरूपण किया है। यदि साधु का आहार आधाकर्मदोष से दूषित होगा तो वह हिंसा का भागी तो होगा ही, साथ ही उसके विचार, संस्कार एवं उसका अन्तःकरण निर्बल हो जायेगा। दूषित आहार से साधु के सुखशील, कषाययुक्त एवं प्रमादी बन जाने का खतरा है। आधा कर्मी आहार-प्राही साधु गाढ़ कर्मबन्धन के फलस्वरूप नरक, तिर्यञ्च आदि योनियों में जाकर दुःख भोगते हैं। उनकी दुर्दशा वैसी ही होती है जैसे-बाढ़ के जल के प्रभाव से प्रक्षिप्त सूखे व गीले स्थान पर पहुँची हुई वैशालिक मत्स्य को मांसार्थी डंक व कंक (क्रमशः चील व गिद्ध) पक्षी सता-सताकर दुःख पहुँचाते हैं।^४ वर्तमान सुख के अभिलाषी कई श्रमण वैशालिक मत्स्य के समान अनन्तबार दुःख व विनाश को प्राप्त होते हैं।

१. सूत्रकृतांग १।२।५७-५९

२. सूत्रकृतांग अमरसुखबोधिनी व्याख्या, पृ० १९२-९६

३. सूत्रकृतांग—१।३।६०-६३

४. उदगस्सऽपभावेणं सुक्कंमि घातमिति उ ।

ढंकेहि व कंकेहि य आमिसत्थेहि ते दुही ॥

वही, १।३।६२

जगत्कर्तृत्वाद्—सूत्रकृतांग में जगत् की रचना के सन्दर्भ में अज्ञानवादियों के प्रमुख सात मतों का निरूपण विद्या गया है—

- (i) किसी देव द्वारा कृत, संरक्षित एवं बोया हुआ ।
- (ii) ब्रह्मा द्वारा रचित, रक्षित या उत्पन्न ।
- (iii) ईश्वर द्वारा रचित ।
- (iv) यह लोक प्रकृति-कृत है ।
- (v) स्वयंभूकृत लोक ।
- (vi) यमराज (मार या मृत्यु) रचित, जगत् माया है, अतः अनित्य है ।
- (vii) लोक अण्डे से उत्पन्न है ।

शास्त्रकार की दृष्टि में ये समस्त जगत्कर्तृत्ववादी परामर्शों से अनभिज्ञ, मृषावादी एवं स्वयुक्तियों के आधार पर अविनाशी जगत् को विनाशी, एकान्त व अनित्य बताने वाले हैं । वास्तव में लोक या जगत् का कभी नाश नहीं होता क्योंकि द्रव्य रूप से यह सदैव स्थिर रहता है । यह लोक अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा । यह सर्वथा अयुक्तियुक्त मान्यता है कि किसी देव, ब्रह्मा, ईश्वर, प्रकृति, विष्णु या शिव ने सृष्टि की रचना की, क्योंकि यदि कृत होता तो सदैव नाशवान होता परन्तु लोक एकान्ततः ऐसा नहीं है । ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे अपने-अपने मान्य आराध्य द्वारा लोक का कर्तृत्व सिद्ध कर सकें । ईश्वर कर्तृत्ववादियों ने घटरूप कार्य के कर्त्ता कुम्हार की तरह ईश्वर को जगत् का कर्त्ता सिद्ध करने का प्रयास किया है परन्तु लोक द्रव्यरूप से नित्य होने के कारण कार्य है ही नहीं । पर्याय रूप से अनित्य है परन्तु कार्य का कर्त्ता के साथ कोई अविनाभाव नहीं है । जीव व अजीव अनादिकाल से स्वभाव में स्थित हैं । वे न कभी नष्ट होते हैं न ही विनाश को प्राप्त होते हैं—उनमें मात्र अवस्थाओं का परिवर्तन होता है । स्वकृत अशुभ अनुष्ठान या कर्म से दुःख एवं शुद्ध धर्मानुष्ठान से भी सुख की उत्पत्ति होती है।

१. सूत्रकृतांगसूत्र—१।३।६४-६९

२. वही पृ० ६७

दूसरा कोई देव, ब्रह्मा, विष्णु आदि किसी को सुख-दुःख से युक्त नहीं कर सकता ।^१

अवतारवाद^२—नियतिवाद की भाँति अवतारवाद मत भी आजीवकों का है । समवायांगवृत्ति और सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कंध के छठें अध्यायन में त्रैराशिकों को आजीवक या गोगालक मतानुसारी बताया गया है, ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानते हैं—

- (i) रागद्वेष रहित कर्मबन्धन से युक्त पाप सहित अशुद्ध आत्मा की अवस्था ।
- (ii) अशुद्ध अवस्था से मुक्ति हेतु शुद्ध आचरण द्वारा शुद्ध निष्पाप अवस्था प्राप्त करना तदनुसार मुक्ति में पहुँच जाना ।
- (iii) शुद्ध निष्पाप आत्मा क्रीड़ा, राग-द्वेष के कारण उसी प्रकार पुनः कर्मरज से लिप्त हो जाता है जैसे—मटमैले जल को फिटकरी आदि से स्वच्छ कर लिया जाता है, परन्तु आँधी-तूफान से उड़ाई गयी रेत व मिट्टी के कारण वह पुनः मलिन हो जाता है ।^३

इस तरह आत्मा मुक्ति प्राप्त कर भी क्रीड़ा और प्रदोष के कारण संसार में अवतरित होता है । वह अपने धर्मशासन की पुनः प्रतिष्ठा करने के लिए रजोगुण युक्त होकर अवतार लेता है ।^४ यही तथ्य गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उपदेश देते हुए कहा है—हे भारत ! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं ही अपने रूप को रचता हूँ, साधु पुरुषों की रक्षा तथा पापकर्म करने वालों

१. (i) न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।

न कर्मफलसंयोगं स्वभाबस्तु प्रवर्तते ॥

गीता ५।१४

(ii) गीता शां० भा० ५।१४

२. सूत्रकृतांगसूत्र—१।३।७०-७१

३. इह संवुडे मुणी जाये पच्छा होति अपावये ।

वियडं व जहा भुज्जो नीरयं सरयं तथा ॥

सूत्रकृतांगसूत्र—१।३।७१

४. स मोक्ष प्राप्तोऽपि भूत्वा कीलावणप्पदोसेण रजसा अवतारते ।

सूयगडं चूर्णि मू० पा० टिप्पण पृ० १२

का विनाश एवं धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ।^१

स्व-स्व प्रवाद प्रशंसा एवं सिद्धि का दावा—सूत्रकार के अनुसार जगत्कर्तृत्ववादी आजीवक कार्य-कारण विहीन एवं युक्तिरहित अपने ही मतवाद की प्रशंसा करते हैं। वे सिद्धिवादी स्वकल्पित सिद्धि को ही केन्द्र मानकर उसी से इहलौकिक एवं पारलौकिक सिद्धि को सिद्ध करने के लिये युक्तियों की खींचतान करते हैं। परन्तु जो दार्शनिक मात्र ज्ञान या क्रिया से अष्टभौतिक ऐश्वर्य, अन्य लौकिक एवं यौगिक उपलब्धियों से मुक्ति मानते हैं वे सच्चे अर्थ में संवृत्त नहीं हैं। वस्तुतः वे स्वयं को सिद्धि से भी उत्कृष्ट ज्ञानी, मुक्तिदाता व तपस्वी कहकर अनेक भोले लोगों को भ्रमित करते हैं। फलतः ये मतवादी इन तीन दुष्फलों को प्राप्त करते हैं—(i) अनादि संसार में बार-बार परिभ्रमण, (ii) दीर्घकाल पर्यन्त भवनपति देव (असुर) योनि में एवं (iii) अल्प ऋद्धि, आयु तथा शक्ति से युक्त अधम किल्बिषित देव के रूप में उत्पत्ति।

मुनिधर्मोपदेश^२—सूत्रकृतांग की ७६ से ७९ तक की गाथाओं में शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ हेतु संयम, धर्म एवं स्वकर्तव्य बोध का इस प्रकार निरूपण किया है—

- (i) पूर्वसम्बन्ध त्यागी, अन्ययूथिक साधु, गृहस्थ को समारम्भ-युक्त कृत्यों का उपदेश देने के कारण शरण ग्रहण करने योग्य नहीं है।
- (ii) विद्वान् मुनि उन्हें जानकर उनसे आसक्ति जनक संसर्ग न रखें।

१. (i) यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

गीता ४।१.७

(ii) वही ४।८

२. सूत्रकृतांगसूत्र—१।३।७२-७५

३. वही—१।४।७६-७९

(iii) परिग्रह एवं हिंसा से मोक्ष प्राप्ति मानने वाले प्रवृज्जा-धारियों का संसर्ग छोड़कर निष्परिग्रही, निरारम्भी महा-त्माओं की शरण में जायें ।

(iv) आहार सम्बन्धी ग्रासैषणा, ग्रहणैषणा, परिभोगैषणा, आसक्ति रहित एवं राग-द्वेष मुक्त होकर करें ।

लोकवाद समीक्षा :—लोकवादियों का तात्पर्य पौराणिक मत-वादियों से है । महावीर के युग में पौराणिकों का बहुत जोर था । लोग पौराणिकों को सर्वज्ञ मानते थे, उनसे आगम-निगम, लोक-परलोक के रहस्य, प्राणी के मरणोत्तर दशा की अथवा प्रत्यक्ष दृश्य-मान लोक की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय की बहुत चर्चाएँ करते थे ।^१ भगवान् महावीर के युग में पूरणकाश्यप, मन्खलिगोशाल, अजित-केशकम्बल, पकुद्धकात्यायन, गौतमबुद्ध, संजयवेठलिपुत्त एवं कई तीर्थंकर थे जो सर्वज्ञ कहे जाते थे ।^२ शास्त्रकार ने इन मतवादियों के सिद्धान्त पर निम्न दृष्टियों से विचार किया है—(i) लोकवाद कितना हैय व उपादेय है, (ii) यह लोक अनन्त, नित्य एवं शाश्वत है या अविनाशी है या अन्तवान किन्तु नित्य है । (iii) क्या पौराणिकों आदि का अवतार लोकवादी है एवं (iv) त्रस, त्रस योनि में ही और स्थावर, स्थावर योनि में ही संक्रमण करते हैं ।^३

लोकवादी मान्यता का खण्डन—

लोकवादियों की यह मान्यता कि लोक अनन्त, नित्य, शाश्वत एवं अविनाशी है का खण्डन करते हुए जैनदार्शनिक कहते हैं कि यदि लोकगत पदार्थों को उत्पत्ति (विनाश रहित स्थिर) कूटस्थ नित्य मानते हैं तो यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है, क्योंकि इस जगत् में जड़-चेतन कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील न हो, पर्याय रूप से वह सदैव उत्पन्न व विनष्ट होते दीखता है । अतः लोकगत पदार्थ सर्वथा कूटस्थ नित्य नहीं हो सकते । दूसरे लोकवादियों की यह मान्यता सर्वथा अयुक्त है कि त्रस सदैव त्रस पदार्थ में उत्पन्न होता है ।

१. सूत्रकृतांग १।४।८०-८३

२. वही पृ० ९२

३. वही

पुरुष, मरणोपरान्त पुरुष एवं स्त्री मरणोपरान्त स्त्री ही होती है। आचारांग सूत्र^१ में कहा गया है कि स्थावर जीव त्रस के रूप में और त्रस जीव स्थावर के रूप में अथवा संसारी जीव सभी योनियों में उत्पन्न हो सकते हैं। अज्ञानी जीव अपने-अपने कर्मों से पृथक्-पृथक् रूप रचते हैं। यदि लोकवाद को सत्य माना जाय कि जो इस जगत् में जैसा है, वह उस जन्म में वैसा ही होगा, तो दान अययन, जप-तप, समस्त अनुष्ठान व्यर्थ हो जायेंगे फिर भला क्यों कोई दान करेगा या यम-नियमादि की साधना करेगा।

अहिंसाधर्म-निरूपण^२—अहिंसा को यदि जैन धर्म दर्शन का मेरुदण्ड कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। इसलिए जैन-गमों में अहिंसा की विस्तृत चर्चा की गई है। सूत्रकार ने भी कुछ सूत्रों में अहिंसा का निरूपण किया है। संसार के समस्त प्राणी अहिंस्य हैं, क्योंकि—

- (i) इस दृश्यमान त्रस-स्थावर रूप जगत् की मन, वचन, काय की प्रवृत्तियाँ अथवा बाल यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ स्थूल हैं, प्रत्यक्ष हैं।
- (ii) स्थावर-जंगम सभी प्राणियों की पर्याय अवस्थाएँ सदा एक सी नहीं रहती।
- (iii) सभी प्राणी शारीरिक, मानसिक दुःखों से पीड़ित हैं अर्थात् सभी प्राणियों को दुःख अप्रिय है।

१. आचारांग १ श्रु० ९ अ० १ गाथा ५४

(मूलअनुवाद विवेचन टिप्पण युक्त) सं०—मधुकर मुनि अनु०—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस', आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर राजस्थान।

२. सूत्रकृतांग सूत्र—१।४।८४-८५

उरालं जगओ जोयं विपरीयासं पलेति य ।

सव्वे अब्बंत दुक्खा य अतो सव्वे अहिंसिया ॥

एतं खु णाणिणो सारं जं न हिंसति किचण ।

अहिंसा समयं चैव एतावतं वियाणिया ॥

उपरोक्त मत पर शंका व्यक्त करते हुए कुछ मतवादी आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं मानते, आत्मा की बाल्यादि अवस्थाएं नहीं होतीं न ही सुख-दुःख होते हैं इसलिए किसी जीव का बध करने से या पीड़ा देने से कोई हिंसा नहीं होती ।

शास्त्रकार उक्त मत को असंगत बताते हैं क्योंकि समस्त प्राणियों की विविध चेष्टायें तथा बाल्यादि अवस्थाएं प्रत्यक्ष हैं, प्राणिमात्र भ्ररणधर्मा है । एक शरीर नष्ट होने पर स्वकर्मानुसार मनुष्य तिर्यञ्च-नरकादि योनियों में परिभ्रमित होता है एवं एक पर्याय से दूसरे पर्याय में बदलने पर जरा, मृत्यु, शारीरिक-मानसिक चिंता, संताप आदि नाना दुःख भोगता है जो प्राणियों को सर्वथा अप्रिय है । इसलिए स्वाभाविक है कि जब कोई किसी प्राणी को सतायेगा, पीड़ा पहुँचायेगा, प्राणों से रहित कर देगा तो उसे दुःखानुभव अवश्य होगा इसीलिए शास्त्रकार ने इन्हीं तीन स्थूल कारणों को प्रस्तुत कर किसी भी प्राणी को हिंसा न करने को कहा है ।

चारित्र-शुद्धि के लिए उपदेश^१

प्रथम अध्ययन के अंतिम तीन सूत्रों में कर्मबंधनों को तोड़ने के लिये चारित्र-शुद्धि का उपदेश दिया गया है । वास्तव में ज्ञान-दर्शन, चारित्र अथवा त्रिरत्न समन्वित रूप में मोक्ष-मार्ग के अवरोधक कर्म-बंधनों से छुटकारा पाने का एकमात्र उपाय है । हिंसादि पांच आस्रवों से अविरति, प्रमाद, कषाय और मन, वचन, काय रूपी योग का दुरुपयोग ये चारित्र दोष के कारण हैं और कर्मबंधन के भी कारण हैं । चारित्र-शुद्धि से आत्मशुद्धि होती है उमास्वाति^२ एवं उनके तत्त्वार्थ-सूत्र के टीकाकारों ने (१) गुप्ति, (२) समिति, (३) धर्म, (४) अनुप्रेक्षा, (५) परीषहजय, (६) चारित्र व (७) तप को संवर का कारण माना है । इसी प्रकार चारित्र शुद्धि के परिप्रेक्ष्य में दस विवेक सूत्रों का निर्देश किया है जो तीन गाथाओं में इस प्रकार अन्तर्निहित है—

१. सूत्रकृतांग १२०।८६-८७-८८ ।

२. तत्त्वार्थसूत्र ९।३ ।

- (१) साधक दस प्रकार की समाचारी में स्थित रहे ।
 (२) उसकी आहार आदि में गृह्णआसक्ति न रहे ।
 (३) अप्रमत्त होकर अपनी आत्मा का या रत्नत्रय का संरक्षण करे ।
 (४) गमनागमन, आसन, शयन, खानपान में विवेक रखे ।
 (५) पूर्वोक्त तीनों स्थानों, समितियों अथवा इनके मन, वचन, काय गुप्ति रूपी तीन स्थानों में मुनि सतत संयत रहे ।
 (६) क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों का परित्याग करे ।
 (७) सदा पंचसमिति (इर्यासमिति, भाषासमिति, एषणासमिति, आदाननिक्षेप समिति और उत्सर्ग समिति) से युक्त अथवा सदा समभाव से प्रवृत्त होकर रहे ।

(८) प्राणात्पितादि विरमण रूप पंचमहाव्रत रूप संवरों से युक्त रहे ।

(९) भिक्षाशील साधु गार्हस्थ्य बंधनों से बंधे हुए गृहस्थों से आसक्ति पूर्वक बंधा हुआ न रहे ।

(१०) मोक्ष प्राप्त होने तक संयमानुष्ठान में प्रगति करे एवं आडग रहे । चूँकि चारित्र कर्मास्त्रव के निरोध का, परम संवर का एवं मोक्षमार्ग का साक्षात् और प्रधान कारण है इसलिए सूत्रकार ने चारित्र-शुद्धि के लिये उपदेश दिया है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकृतांग (प्रथम अध्ययन के प्रथम से लेकर चौथे उद्देशक तक) में भारतीय दर्शन में वर्णित प्रायः सभी मतवादों का कुशल समावेश कर उनकी मीमांसा की गई है । ऐसा कोई मतवाद नहीं है जिसे सूत्रकार की पैनी दृष्टि ने स्पर्श न किया हो । यद्यपि सूत्रकार ने किसी भी सम्प्रदाय विशेष का नामोल्लेख नहीं किया है, केवल उनके दार्शनिक मन्तव्यों को ही आधार मानकर स्वपक्षमण्डन व परपक्ष निरसन किया है, फिर भी वह अपने उद्देश्य में सर्वथा सफल रहा है । सम्प्रदायों का स्पष्टनामोल्लेख न मिलने का कारण बहुत कुछ सीमा तक उन-उन मतवादों का उस समय तक पूर्णरूपेण विकसित न होना माना जा सकता है । बाद के टीकाकारों

व नियुक्तिकारों ने इन दार्शनिक मन्तव्यों का सम्प्रदाय विशेष सहित उल्लेख किया है।

जहां तक इसमें अन्तर्निहित दार्शनिक विवेचना का प्रश्न है, सूत्रकार ने जिन मतवादों का उल्लेख किया है, उन्हें अपने अनेकान्त-वाद व कर्मवाद प्रवण अहिंसा की कसौटी पर कसते हुए यही बताने का प्रयास किया है कि चाहे वह वैदिक दर्शन का कूटस्थ आत्मवाद हो, बौद्धों का क्षणिकवाद, लोकायतों का भौतिकवाद हो, सांख्यों का अकर्त्तावाद हो या नियतिवादियों का नियतिवाद हो—कोई भी दर्शन हमारे सतत अनुभव व्यक्तित्व की एकता एवं हमारे चेतनामय जीवन की जो सतत परिवर्तनशील है, सम्पूर्ण दृष्टि से समुचित व्याख्या नहीं कर पाता। यह जैनदर्शन की अनेकान्तवादी दृष्टि ही है जो एकान्त-शाश्वतवाद एवं एकान्त-उच्छेदवाद के मध्य आनुभविक स्तर पर एक यथार्थ समन्वय प्रस्तुत कर सकती है तथा नैतिक एवं धार्मिक जीवन की तर्कसंगत व्याख्या कर सकती है।



पार्श्वनाथ जन्मभूमि मंदिर, वाराणसी का पुरातत्त्ववीय वैभव

(उत्खनन में उपलब्ध सामग्री के आधार पर)

प्रो० सागरमल जैन

जैन परम्परा में काशी जनपद और उसकी राजधानी वाराणसी का महत्वपूर्ण स्थान है। यह माना जाता है कि इस नगर में चार तीर्थङ्करों—सुपार्श्व, चन्द्रप्रभ, श्रेयांस और पार्श्व का जन्म हुआ था^१। इनमें से प्रथम तीन तो प्रागैतिहासिक काल के और पार्श्व ऐतिहासिक युग के माने जाते हैं। उनका काल लगभग ई० पूर्व आठवीं शताब्दी माना जाता है।

जैन आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य में पार्श्वनाथ की जन्म कल्याणक-भूमि के रूप में वाराणसी नगरी का उल्लेख है^२। पुरातात्विक अन्वेषण एवं शोध के आधार पर ई० पूर्व आठवीं शताब्दी में वाराणसी नगरी का अस्तित्व प्रमाणित है, अतः इसे पार्श्व की जन्म-स्थली के रूप में स्वीकार करने में पुरातात्विक दृष्टि से कोई बाधा नहीं है। अब हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि क्या यहाँ पार्श्व की जन्मभूमि पर किसी स्मारक-मंदिर आदि का निर्माण हुआ? और यदि हुआ तो कब हुआ? इस प्रश्नके उत्तर के लिए जैन साहित्य और यहाँ से उपलब्ध पुरातात्विक साक्ष्यों का अध्ययन आवश्यक है।

जैन आगमिक व्याख्या साहित्य में वाराणसी नगरी का विस्तार-पूर्वक उल्लेख है। प्रज्ञापना में काशी की एक जनपद के रूप में गणना करते हुए वाराणसी को उसकी राजधानी बताया गया है। जैन ग्रन्थों में काशी की सीमा इस प्रकार निर्धारित की गयी है—पूर्व में मगध, पश्चिम में वत्स, उत्तर में विदेह और दक्षिण में कोशल। बौद्ध ग्रन्थों में काशी के उत्तर में कोशल जनपद स्थित बतलाया गया है।

ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार वाराणसी नगरी के समीप गंगा नदी उत्तर-पूर्व दिशा में बहती है। आज भी गंगा नदी वाराणसी नगरी के समीप उत्तर-पूर्व दिशा में बहती है। ज्ञाताधर्मकथा में एक मृत-गंगा-द्रह की चर्चा है।^४

ज्ञाताधर्मकथा के अतिरिक्त उत्तराध्ययनचूर्णी में भी मृतगंगा (मयंग) का उल्लेख है।^५ इससे ज्ञात होता है कि इस नगर के समीप गंगा की कोई एक अन्य धारा भी थी। किन्तु आगे चलकर यह धारा क्षीण होती गई और मुख्य धारा से विच्छिन्ने होकर उसने अनेक द्रहों का रूप ले लिया। जिनमें वर्षा और बाढ़ का पानी जमा हो जाता होगा। गंगा की इस मृतधारा की एवं उससे निर्मित द्रह की सूचना जैन साहित्य को छोड़कर अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

वाराणसी नगरी के भौगोलिक मानचित्र एवं टोपोग्राफी से प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में गंगा की एक धारा वर्तमान अस्सी नाले की ओर से होती हुई दुर्गाकुण्ड, भेलूपुर, रेवड़ीतालाब आदि क्षेत्रों को स्पर्श करते हुए नई सड़क, बेनिया के रास्ते से होकर संस्कृत विश्वविद्यालय के निकट वरुणा में मिल जाती थी। आज भी बाढ़ अथवा वर्षा में इन क्षेत्रों में विशाल जलराशि एकत्र हो एक बृहद् द्रह का रूप ले लेती है। इन क्षेत्रों में आज भी कई पक्के सरोवर हैं, संभवतः इनका निर्माण यहाँ के आवासीय प्रक्षेत्रों को उक्त जल-जमाव की समस्या से मुक्त रखने के उद्देश्य से ही किया गया होगा।

प्राकृत शब्द 'मयंग' का संस्कृत रूप 'मातंग' भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में मयंगतीरदहे का अर्थ होगा—गंगा के किनारे मातंगों की बस्ती के निकट स्थित तालाब। संभव है कि वर्तमान हरिश्चन्द्र घाट के समीप मातंगों (चांडालों) की बस्ती रही हो और उस बस्ती के निकट वर्तमान रवीन्द्रपुरी तालाब के रूप में रही हो। उत्तराध्ययन-चूर्णी में उस द्रह के समीप मातंगों की बस्ती होने की स्पष्ट रूप से चर्चा है।

जैन आगमों में वाराणसी की बाह्य उपत्यकाओं में अनेक उद्यानों एवं वन खण्डों के भी उल्लेख हैं। कल्पसूत्र में यहाँके 'आश्रमपदउद्यान' का,^६ उपासकदशाङ्ग^७ और आवश्यकनिर्युक्ति^८ में कोष्ठकवन का,

निरयावलिका^{१०} में अम्बशाल वन का, अन्तकृद्दशा में काममहावन का और उत्तराध्ययननिर्युक्ति में तिन्दुकवन का उल्लेख मिलता है।

कुछ वर्षों पूर्व तक के मानचित्रों में भी वाराणसी के निकट भद्रेश्वरवन, हरिकेशवन, आनन्दवन, अशोकवन, ध्रुववन और महावन होने के निर्देश उपलब्ध हैं।^{१०} इसमें हरिकेशवन और काममहावन के नाम जैन परम्परा की दृष्टि से विशेष रूप से विचारणीय हैं। हो सकता है कि उत्तराध्ययन में उल्लिखित वाराणसी के हरिकेशबल नामक श्वपाक महामुनि के नाम के आधार पर ही इस वन का नामकरण हुआ हो। इस वन की स्थिति वर्तमान रेवड़ीतालाब के निकट बतलायी गयी है। यह क्षेत्र वर्तमान भैलूपुर मंदिर का निकटवर्ती है। हो सकता है कि ये हरिकेशबल पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बद्ध रहे हों और यह क्षेत्र उनका निवास स्थल या साधना स्थल रहा हो। इसी प्रकार महावन सम्भवतः अन्तकृतद्दशा में उल्लिखित काममहावन हो। औपपातिकसूत्र^{११} से गंगा के किनारे बसने वाले अनेक प्रकार के तापसों की भी सूचना मिलती है।

किन्तु ये सब आगमिक उल्लेख वाराणसी में पार्श्वनाथ की स्मृति में स्थापित किसी जिनालय की चर्चा के सम्बन्ध में मौन हैं। यद्यपि तिन्दुक-वृक्षवासी तिन्दुकयक्ष के एक यक्षायतन का उल्लेख उत्तराध्ययन चूर्ण में है^{१२}। बटगोहली—पहाड़पुर (बंगाल) से प्राप्त ई० सन् ४७९ के एक ताम्रपत्र में काशी के पंचस्तूपान्वय का उल्लेख आया है।^{१३} यह पंचस्तूपान्वय जैन परम्परा का एक प्रसिद्ध उपसम्प्रदाय रहा है जो लगभग दसवीं शताब्दी तक अस्तित्ववान था। यह भी स्पष्ट है कि पंचस्तूपान्वय का सम्बन्ध पांच जैन स्तूपों से ही रहा होगा। किन्तु ये पञ्चस्तूप कहाँ थे, इसका कोई साहित्यिक उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भव है कि मयुराके समान वाराणसी आदि क्षेत्रों में भी पार्श्व की स्मृति में स्तूपों का निर्माण हुआ हो और उन्हीं स्तूपों की अर्चा से सम्बन्धित होने के कारण इस सम्प्रदाय का यह नामकरण हुआ होगा। किन्तु वाराणसी में भी जैन स्तूप निर्मित हुये थे? इसके अभी तक कोई भी पुरातात्विक संकेत नहीं मिले हैं। जिनप्रभसूरी धर्मक्षास्तूप का वर्णन करते हैं किन्तु उसे वे बौद्ध स्तूप ही मानते हैं।^{१४} किन्तु ऐसा

विश्वास अवश्य होता है कि सारनाथ स्थित बौद्ध स्तूप के समान ही यहाँ जैन स्तूपों का भी निर्माण अवश्य हुआ है। हो सकता है कि पार्श्वनाथ जन्म स्थान मन्दिर के स्थल पर पहले कोई स्तूप रहा हो और उसके पश्चात् ६-७वीं शताब्दी में वहाँ मन्दिर बना हो—क्योंकि नींव के उत्खनन में कुछ प्राचीन ईंटों के टुकड़े मिले हैं।

‘काशिक पंचस्तूपनिकाय’—यह नाम स्पष्ट रूप से यह संकेत करता है कि यहाँ जैन स्तूप रहे होंगे, तथापि इस सम्बन्ध में हमें अभी तक कोई पुरातात्विक या साहित्यिक प्रमाण नहीं मिले हैं।

राजघाट (वाराणसी) से उपलब्ध कुछ प्राचीन जैन प्रतिमाएँ

वाराणसी में राजघाट के उत्खनन से कुछ जैन प्रतिमायें भी मिली हैं जो लगभग छठीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी के बीच की हैं। उनमें ईसा की लगभग छठीं शताब्दी की भगवान् महावीर की प्रतिमा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह प्रतिमा भारत कला भवन (क्रमांक-१६१) में संरक्षित है। राजघाट से ही प्राप्त नेमिनाथ की मूर्ति भी लगभग ७वीं शताब्दी की मानी जाती है। यह प्रतिमा भी भारत कला भवन में संरक्षित है। इसी प्रकार अजितनाथ की ७वीं शती की एक प्रतिमा जो वाराणसी से ही प्राप्त हुई है, आज राजकीय संग्रहालय, लखनऊ में संरक्षित है। पार्श्वनाथ की एक अन्य मूर्ति जो राजघाट से प्राप्त हुई थी, यह ८वीं शती की है और राजकीय संग्रहालय लखनऊ में संरक्षित है, किन्तु ये सभी प्रतिमायें वाराणसी के उत्तर-पूर्वी छोर राजघाट से मिली हैं।^{१४}

भेलूपुर स्थित पार्श्वनाथ जन्मस्थान मंदिर

वर्तमान में वाराणसी और उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में छोटे-बड़े २० से अधिक जैन मंदिर हैं, किन्तु इनमें कोई भी मंदिर पुरातात्विक दृष्टि से ३०० वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। वर्तमान में भेलूपुर में जहाँ पार्श्वनाथ का जन्मस्थान-मंदिर बना हुआ है, उसकी भी ऐतिहासिकता एवं पुरातात्विक महत्त्व के सन्दर्भ में यहाँ निर्मित हो रहे दिगम्बर जैन मंदिर की नींव के उत्खनन के पूर्व हमें विशेष कुछ भी ज्ञात नहीं था। क्योंकि वर्तमान श्वेताम्बर

और दिगम्बर मंदिरों में कुछ जिन प्रतिमाओं को छोड़कर १७-१८वीं शती के पूर्व के कोई अवशेष उपलब्ध नहीं हैं ।

साहित्यिक साक्ष्यों की दृष्टि से १४वीं शताब्दी में जिनप्रभसूरि एक ओर देव वाराणसी में स्थित विश्वनाथ मंदिर में २४ तीर्थंकरों के एक आयाग-पट्ट होने की सूचना देते हैं तो दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं कि यहाँ दन्तखात तालाब के किनारे पार्श्वनाथ का जन्मस्थान मंदिर है ।^{१५} जिनप्रभसूरि ने तालाब के किनारे जिस मंदिर की चर्चा की है वह निश्चित रूप से भेलूपुर क्षेत्र में स्थित पार्श्वनाथ का जन्म-स्थान मंदिर ही है । क्योंकि कुछ वर्ष पूर्व तक भी इसके आस-पास अनेक विशाल तालाब थे, जो अब छोटेरूप में नाम मात्र के रह गये हैं, जैसे—रेवड़ी तालाब, मानसरोवर आदि । ये गंगा की उसी मृतधारा के अवशेष माने जा जा सकते हैं जिसका उल्लेख हमें ज्ञाता-धर्मकथा में मिलता है । अभी तक हम कल्पप्रदीप के साहित्यिक प्रमाण से यह कह सकते थे कि जिनप्रभसूरि ने पार्श्वनाथ के जिस मंदिर के होने का उल्लेख किया है, वह भेलूपुर का पार्श्वनाथ जैन मंदिर ही रहा होगा । किन्तु सौभाग्य से हाल ही में उस स्थल से कुछ ऐसे पुरातात्विक साक्ष्य उपलब्ध हो सके हैं, जिनके आधार पर जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित इस पार्श्वनाथ के जन्मस्थान मंदिर की प्राचीनता को सुनिश्चित किया जा सकता है ।

इस क्षेत्र का जो भेलूपुर नामकरण हुआ है वह भी अर्थपूर्ण है । संस्कृत कोश में 'भेलू' का अर्थ 'बुद्ध' दिया गया है ।^{१६} प्राचीन जैन आगमों में जिन या तीर्थंकर के लिए 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग भी प्रचुरता से हुआ है । उत्तराध्ययनसूत्र के १८वें और ३६वें अध्याय में तीर्थंकरों के लिए 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग हुआ है ।^{१७} ऐसा लगता है कि पार्श्व से सम्बन्धित होने के कारण ही इस क्षेत्र को भेलूपुर (बुद्धपुर) ऐसा नाम मिला होगा ।

भेलूपुर पार्श्वनाथ मंदिर की प्राचीनता का प्रश्न

यहाँ जो श्वेताम्बर-दिगम्बर मंदिर स्थित हैं, वे १७वीं-१८वीं शती से प्राचीन नहीं हैं । यद्यपि दिगम्बर मंदिर में तीन-चार प्रतिमाओं

को छोड़कर कोई भी १५वीं शती से पूर्व की नहीं है। उनमें भी एक भव्य प्रतिमा चन्द्रावती से लायी गयी है। उस पर विभिन्न कालों के तीन लेख हैं तथा एक लेख में 'चन्द्रावत्यां' ऐसा उल्लेख है। साहित्यिक साक्ष्यों से ऐसी सूचना मिलती है कि यह प्रतिमा चन्द्रावती के प्राचीन चन्द्रमाधव के मंदिर में स्थित थी। यद्यपि दिगम्बर समाज द्वारा पूर्व मंदिर के स्थान पर नये मंदिर का निर्माण हो रहा है किन्तु श्वेताम्बर जिनालय आज भी उसी स्थिति में है। जन्मस्थान के इन मंदिर के स्वामित्व को लेकर लगभग दो शताब्दियों से दोनों सम्प्रदायों में विवाद चल रहा था, जिसके कारण इन मंदिरों का नवनिर्माण संभव नहीं हो पा रहा था। संयोग से लगभग ३ वर्ष पूर्व दोनों सम्प्रदायों ने उदारता का परिचय देकर विवाद के कुछ मुद्दों पर लेखक के निर्णय को मान्य करके इस विवाद का निराकरण किया और भूमि, मंदिर और प्रतिमाओं आदि का विभाजन कर लिया। इसके पश्चात् दिगम्बर समाज ने अपने क्षेत्र में विशाल धर्मशाला के साथ नवीन मंदिर बनाने का कार्य प्रारम्भ किया। संयोग से नवीन जिनालय के लिए नींव की खुदाई में कुछ ऐसी प्राचीन जिन मूर्तियाँ और पुरातात्विक महत्त्व की सामग्री प्राप्त हुई है जो इस मंदिर-स्थल की प्राचीनता को सुनिश्चित करने में अत्यन्त सहायक है। प्राप्त सूचनाओं के अनुसार नींव की खुदाई के समय पूर्व-दक्षिण दिशा में जो सामग्री उपलब्ध हो सकी है, उसका सचित्र विवरण यहां प्रस्तुत है।

यह हमारा दुर्भाग्य ही है कि मंदिर निर्माण की शीघ्रता में उस स्थल की वैज्ञानिक दृष्टि से समुचित खुदाई नहीं हो पायी और बहुत कुछ सामग्री भूगर्भ में ही रह गयी।

प्राचीन मूलनायक प्रतिमा

निर्माणाधीन दिगम्बर मंदिर की दक्षिण दिशा की नींव से पार्श्वनाथ की एक खण्डित प्रतिमा मिली है—यह प्रतिमा पद्मासन में स्थित है। प्रतिमा की पादपीठ में सर्प की कुण्डली है और वही सर्प पार्श्वभाग में उस कुण्डली से बलयाकार में ऊपर उठता हुआ प्रतिमा के मस्तक पर सप्तफणों का छत्र बनाये है। अपने मूल आकार में यह

पद्मासन-प्रतिमा लगभग ५ फुट की रही होगी किन्तु वर्तमान में गर्दन के ऊपरी भाग और छत्र के टूट जाने से इसकी ऊँचाई ३९ इंच और चौड़ाई ३१ इंच है। प्रतिमा अत्यन्त भव्य और सुडौल रही है। सम्भवतः प्राचीन मंदिर में यही मूलनायक की प्रतिमा रही है। प्रो० मधुसूदन ढाकी, प्रो० अवध किशोर नारायण और प्रो० कृष्णदेव ने इस प्रतिमा को लगभग ५वीं-६ठीं शताब्दी का बताया है। (चित्र क्रमांक-१)

अन्य प्रतिमाएँ

उपरोक्त प्रतिमा के अतिरिक्त यहाँ से एक स्तम्भ का शिरोभाग भी प्राप्त हुआ है। इसके चारों ओर महावीर (चित्र सं० २) पार्श्व (चित्र सं०-३) ऋषभ (चित्र सं०-४) और सम्भवतः अरिष्टनेमि (चित्र सं०-५) की प्रतिमाएँ हैं। ये प्रतिमाएँ अत्यन्त सौम्य हैं। इनकी शैली के आधार पर उक्त विद्वानों ने इन्हें उत्तर कुषाण और पूर्व गुप्त काल अर्थात् लगभग चतुर्थ शती ई० सन् का बतलाया है। सभी प्रतिमाएँ ७ इंच चौड़ी और लगभग ९ इंच ऊँची हैं। एक अन्य प्रतिमा जो लगभग ऊँचाई में २२ इंच की रही होगी, खण्डित अवस्था में प्राप्त हुई। वर्तमान में धड़ के ऊपर का भाग अनुपलब्ध है। यह प्रतिमा भी उत्तर गुप्तकाल की प्रतीत होती है। वर्तमान में अवशिष्ट भाग १२ इंच है। प्रतिमा के नीचे अस्पष्ट मृग का चिह्न होने से यह प्रतिमा शान्तिनाथ की होगी, ऐसा माना जा सकता है (चित्र सं०-६) परिकर से युक्त एक अन्य खड्गासन प्रतिमा भी यहीं से प्राप्त हुई है। इस प्रतिमा के चरणों के आस-पास स्त्री और पुरुष वंदन की मुद्रा में उत्कीर्ण हैं। परिकर में चार जिन खड्गासन में हैं। शिरोभाग के ऊपर एक जिन प्रतिमा पद्मासन में है। मुखमण्डल के दोनों ओर हाथी उत्कीर्ण हैं। इस प्रतिमाफलक की ऊँचाई लगभग पादपीठ और छत्र सहित २ फीट है। मुख्य प्रतिमा १६ इंच ऊँची और अत्यन्त सुन्दर हैं। (चित्र सं०-७) विद्वानों ने इस प्रतिमा का काल लगभग १०वीं शताब्दी माना है।

प्राप्त अभिलेख

इन प्रतिमाओं के अतिरिक्त पार्श्वनाथ की खण्डित फणावली भी

यहाँ से उपलब्ध है जो २९ इंच की है ? फणावली के ऊपर कमठ उत्कीर्ण है। एक स्तम्भ का शिरो भाग भी यहाँ से प्राप्त हुआ है, जो लेख युक्त है, लेख अत्यन्त संक्षिप्त है और मात्र ६" × ३" में खुदा है। प्रो० कृष्णदेव जी एवं डा० टी० पी० वर्मा ने इस के कुछ अंश को पढ़ा है, तदनुसार "ॐ (महा) राज भाजदेव . . . कारितं" ऐसा उल्लेख है, शेष अंश पढ़ा नहीं जा सका है। अक्षरों की बनावट के आधार पर लेख की काल सीमा ९वीं—१०वीं शताब्दी अनुमानित किया गया है। (चित्र सं० ८)

हमारे अनुरोध पर प्रो० माहेश्वरी प्रसाद जी चौबे ने इसे पढ़ने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार लेख का पाठ निम्न है—

१. ॐ [महा]राज श्री भाजदेव मन्त्रि

२. क

३. ट्ट श्री कच्छ म (वी ?) ... (लं ?) कारितं

प्रस्तुत शिलालेख में महाराज श्री भाजदेव का उल्लेख है, किन्तु यह 'भाजदेव पाठ शुद्ध नहीं हैं, मेरी दृष्टि में इसे भोजदेव होना चाहिए। यद्यपि हम 'भोजदेव' ऐसा शुद्ध पाठ मानें तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि विवेच्य 'महाराज श्री भोजदेव' कौन थे ? यह सुनिश्चित है कि इस अभिलेख की लिपि ९वीं—१०वीं शताब्दी की है। अतः ये भोजदेव वही हो सकते हैं जिनका शासन ९वीं—१०वीं शताब्दी में वाराणसी पर रहा हो। इस संदर्भ में मैंने सर्वप्रथम जैन स्रोतों से खोज करने का प्रयत्न किया है।

"Political History of Northern India from Jain Sources" में मुझे भोज नामक चार राजाओं का उल्लेख उपलब्ध हुआ। इनमें से एक भोजदेव का उल्लेख काठियावाड आमरण शिलालेख (वि० सं० १२३३) में मिलता है किन्तु इन भोजदेव का काल ईस्वीसन् की १२वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है और इनका शासन क्षेत्र काठियावाड (गौराष्ट्र) है। अतः काल और क्षेत्र दोनों ही दृष्टि से इनका सम्बन्ध वाराणसी के इस अभिलेख भोजदेव से नहीं हो सकता है। यद्यपि इनके पुत्र ने सन्मतिस्वामी (सुमति) नामक पांचवें तीर्थंकर की उपासना हेतु एक बगीचा दान दिया था।

दूसरे भोज धारा नरेश परमार वंशीय मुंजदेव के भतीजे भोज हैं। यद्यपि इन भोज का अनेक जैन आचार्यों से सम्बन्ध रहा है और जैन प्रबन्धों में इनका विस्तृत उल्लेख भी है। इनका काल ईस्वी सन् की ग्यारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इसी परमारवंश में एक अन्य भोज भी हुए हैं किन्तु इनका काल तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है, परमारवंशीय इन दोनों-भोज (प्रथम) और भोज (द्वितीय) का वाराणसी से कोई सम्बन्ध था, यह ज्ञात नहीं है। पुनः इस लेख की लिपि की आधार पर अनुमानित काल से इन दोनों का काल भी परवर्ती ही है।

इनके अतिरिक्त कन्नौज के प्रतिहारवंशीय राजाओं में एक भोज-देव का उल्लेख मिलता है।^{१८} ये प्रतिहारों की अवन्ति शाखा के वत्सराज के उत्तराधिकारी नागभट्ट (द्वितीय) के पौत्र एवं उत्तराधिकारी थे।^{१९} नागभट्ट (द्वितीय) ने ही अपनी राजधानी अवन्ती से कन्नौज स्थानान्तरित की थी। इस भोजदेव का एक अभिलेख देवगढ़ (झाँसी) के जैन मन्दिर से भी प्राप्त है। वह भी इस अभिलेख की तरह एक स्तम्भ लेख है। इसके अतिरिक्त इनका ही एक प्रशस्ति लेख ग्वालियर से भी प्राप्त है। प्रभावकचरित्र^{१९} एवं प्रबन्धकोश^{२०} के बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध में इन भोजदेव का विवरण उपलब्ध होता है। बप्पभट्टिसूरि द्वारा कन्नौज (कान्यकुब्ज) जाकर इन्हें जैनधर्म के प्रति श्रद्धावान बनाने के भी उल्लेख हैं। इन स्रोतों से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि भेलूपुर पार्श्वनाथ जन्मस्थल स्थित मंदिर से प्राप्त इस अभिलेख में उल्लेखित भोजदेव प्रतिहारवंशीय कान्यकुब्ज के राजा भोजदेव ही हैं। दोनों प्रबन्धों और देवगढ़ के अभिलेख (ईस्वीसन् ८६२) से इनका राज्य काल ईसा की ९वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध है। यही इस मंदिर के जीर्णोद्धार का काल होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाराणसी में भेलूपुर स्थित जिनालय के नींव की खुदाई में जो पुरातात्विक सामग्री प्राप्त हुई है वह चौथी शताब्दी से लेकर १०वीं शताब्दी के मध्य की है। ये सभी प्रतिमाएँ और स्तम्भ चुनार के लाल पत्थर के हैं। इस आधार पर यहाँ चतुर्थ शताब्दी में भी पार्श्वनाथ मंदिर होने और

विभिन्न कालों में उसके जीर्णोद्धार की सूचना मिलती है। अनुमानतः प्रथम मंदिर लगभग चौथी शताब्दी के पूर्व निर्मित हुआ होगा। आगे उसकी सामग्री का उपयोग करते हुए लगभग छठी शताब्दी में कोई मंदिर बना होगा जिसमें उपलब्ध मूलनायक की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई होगी। पुनः ९वीं-१०वीं शताब्दी में इस मंदिर का जीर्णोद्धार हुआ होगा। जिनप्रभसूरि के काल तक यही मंदिर रहा होगा। पुनः मुगल काल के पश्चात् लगभग १७वीं शती में पुराने मंदिर के स्थल पर नवीन मंदिर का निर्माण हुआ होगा।

इस प्रकार स्पष्ट है कि पार्श्वनाथ के जन्मस्थल पर आज से १६०० वर्ष पूर्व भी एक जिनालय था, जो ईंट और पत्थर से निर्मित था और अपने आप में भव्य रहा होगा।

प्रस्तुत लेख हेतु उपलब्ध विविध सूचनाओं और सहयोग के लिए मैं दिगम्बर जैन समाज के वरिष्ठ कार्यकर्ता बाबू ऋषभदास जी, श्री मुन्नी बाबू, श्री सतीश कुमार जैन, ब्रह्मचारी पं० श्री धन्यकुमार जी, मंदिर के पुजारी तथा पुरातात्विक सामग्री के काल-निर्णय सम्बन्धी चर्चा के लिए प्रो० मधुसूदन ढाकी प्रो० अवधकिशोर नारायण, प्रो० कृष्णदेव, प्रो० माहेश्वरी प्रसाद चौबे तथा संस्थान के पूर्व शोध-छात्र डा० मारुतिनन्दन तिवारी और अपने शोध-सहयोगी डा० शिव प्रसाद का आभारी हूँ।

१. आवश्यकनियुक्ति, ३८२-८४

२. कल्पसूत्र-१४८

३. (अ) तेषं कालेणं तेषं समएण वाणारसी नाम नगरी होत्था, वन्नओ।
तीसे णं वाणारसीए नयरीए बहिया उत्तरपुरच्छि में दिसिभागे
गंगाए महानदीए मयंगतीरइहे नामं दहे होत्था।

—ज्ञाताधर्मकथा ४.२

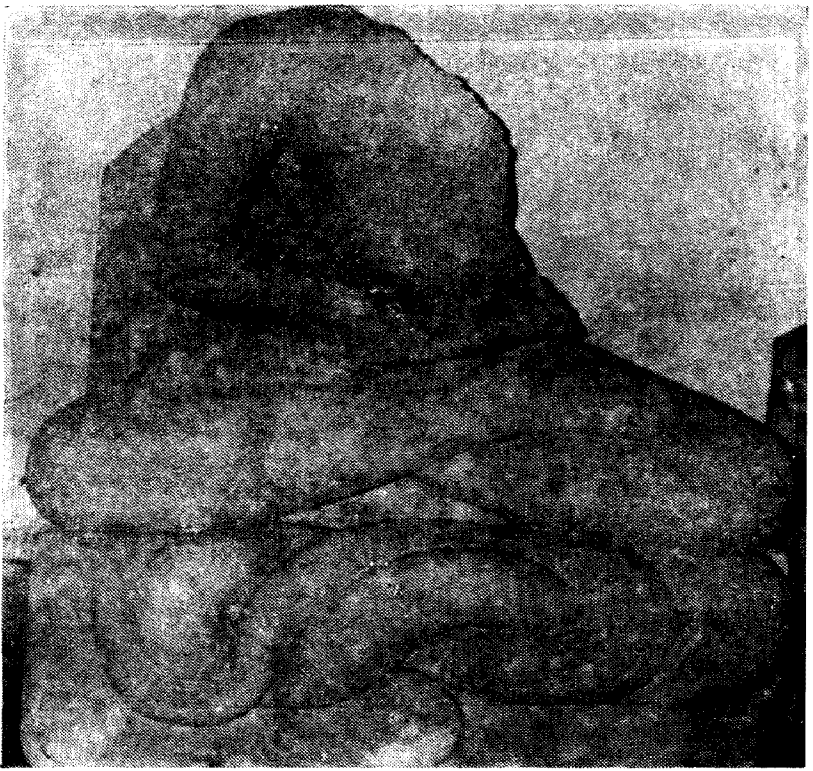
(ब) उत्तराध्ययनचूणि अध्याय १२, पृ० ३५५

४. कल्पसूत्र, १५३

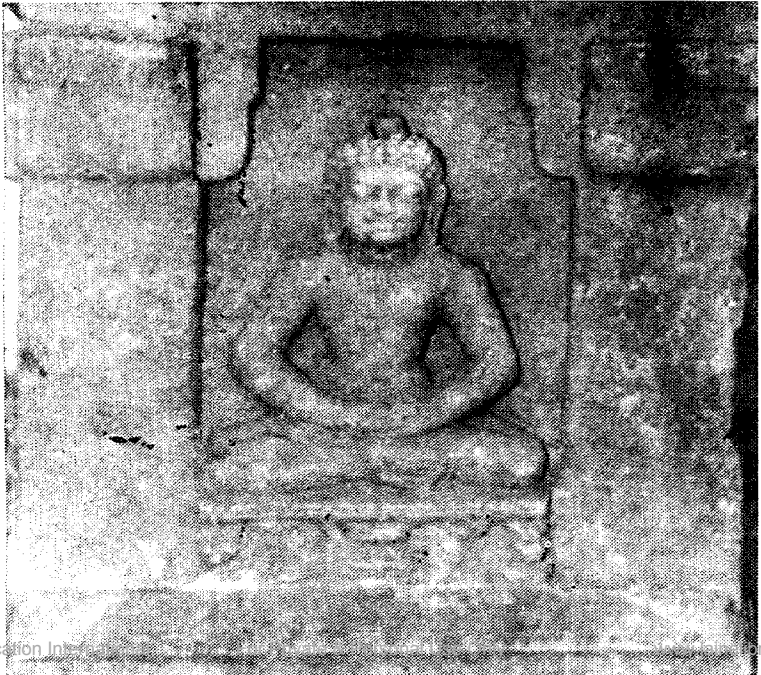
५. उपासकदशांग, ३।१२४,

६. आवश्यकनियुक्ति, १३०२

७. निरयावलि, ३।३



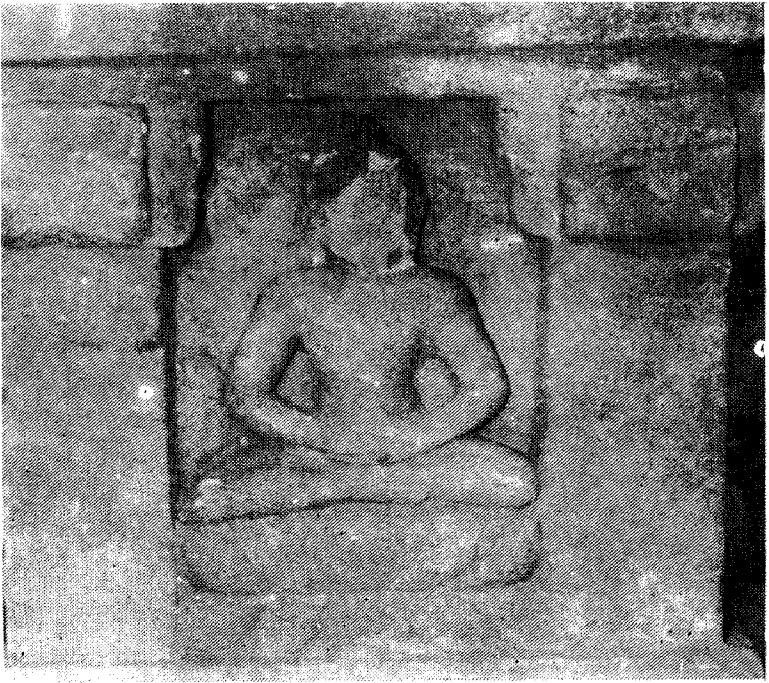
पार्श्वनाथ [लगभग ईसा की ६ शताब्दी]





चित्र सं ३ - पार्श्व





चित्र सं० ५—सम्भवतः अरिष्टनेमि



चित्र सं० ६—शान्तिनाथ



चित्र सं०—७
पंचतीर्थी जिन प्रतिमा
लगभग १०वीं शताब्दी



८. अन्तकृत्दशांग, ६।१६
९. उत्तराध्ययनचूणि, अध्याय १२, पृ० २०२
१०. देखें-Varanasi through the Ages (युग-युगों में काशी) पृ० ८
११. औपपातिक सूत्र, ७४
१२. उत्तराध्ययनचूणि, अध्याय १२, पृ० २०२
१३. Epigraphia Indica Vol. XX (1929-30) P. 61-62
१४. भारत कला भवन (वाराणसी) का. जैन पुरातत्त्व—मारुतिनंदन तिवारी, अनेकांत, वर्ष २४, अंक २, जून १९७१, पृ० ५१-५८
१५. विविधतीर्थकल्प (कल्पप्रदीप)—वाराणसीनगरीकल्प
१६. Sanskrit-English Dictionary (Monier Williams) P. 766
१७. उत्तराध्ययन, १८।२४; ३६।२६८
१८. देखें—Political History of Northern India—G. C. Choudhary, P. 42-43
१९. प्रभावकचरित्र-बप्पभट्टिसूरिचरितम् ६२०-७६६
२०. प्रबन्धकोश—बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध पृ० ४१-४६

प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन

शोध प्रबन्ध-सार

—प्रवेश भारद्वाज

यह ग्रन्थ राजशेखरसूरि द्वारा ई० सन् १३४९ में रचा गया। इसके उद्धरणों का परवर्ती जैन-प्रबन्धों में प्रयोग हुआ है। सोलहवीं शताब्दी का बल्लालकृत भोजप्रबन्ध भी इसका साक्ष्य है। प्रबन्धकोश का सर्वप्रथम उपयोग १८५६ में ए०के० फार्बस् महोदय ने 'रासमाला' में किया है। इसके बाद १९वीं शताब्दी के अन्त में लिखी गयी हेमचन्द्राचार्य की जीवनी में बुहलर महोदय ने इसका प्रभूत प्रयोग किया है। इसकी प्रसिद्धि से प्रेरित होकर इसके दो गुजराती भाषान्तर किये गये—एक मणिलाल नभुभाई द्विवेदी द्वारा और दूसरा हीरालाल रसिकदास कापड़िया द्वारा। १९२१ में हेमचन्द्रसभा, पाटन से और १९३१ में जामनगर से इसके संस्करण निकाले गये।

मुनि जिनविजय ने १९३५ में सिंधी जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रबन्धकोश का एक प्रामाणिक संस्करण निकाला। आर०एस०त्रिपाठी, गुलाबचन्द्र चौधरी, ए०के० मजुमदार, बी०जे० सांडेसरा प्रभृति विद्वानों ने राजशेखर को इतिवृत्तकार मानकर प्रबन्धकोश का अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र स्फुट प्रयोग किया है। चतुर्विंशतिप्रबन्ध पर नागरी-प्रचारिणी पत्रिका में शिवदत्त शर्मा का केवल एक लेख और जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ६ में लगभग आधा पृष्ठ प्रकाशित है। किन्तु आज तक प्रबन्धकोश का न तो हिन्दी या अंग्रेजी में अनुवाद हुआ और न ही उस पर कोई एक स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित किया गया।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में प्रबन्धकोश को पहली बार एक नये दृष्टिकोण से देखा और परखा गया है। इसमें प्रबन्धकोश का परम्परागत राजनैतिक, सामाजिक, भौगोलिक अथवा सांस्कृतिक अध्ययन न करके इतिहासशास्त्रीय दृष्टि से विवेचन किया गया है क्योंकि प्रबन्धकोश का ऐतिहासिक विवेचन जैन इतिहास के विकासक्रम की एक कड़ी है।

इतिहासशास्त्र की भृग्वांगिरस परिपाटी युगों से चली आ रही है जिसने प्राचीन इतिहासशास्त्रीय परम्पराओं को पूर्वमध्यकालीन परम्पराओं से युगबद्ध कर दिया है। जैन आगम-साहित्य में नेमि, पार्श्व, महावीर जैसे तीर्थङ्करों के जीवन-वृत्त के साथ ही श्रेणिक, कुणाल एवं सम्प्रति प्रभृति राजाओं की परम्परा भी सुरक्षित है। जिनसेन (८३७ ई०) ने आदिपुराण में इतिहास की परिभाषा प्रस्तुत की है। हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में पुरावृत्त, प्रहेलिका, जनश्रुति, वार्ता, ऐतिह्य एवं पुरातनी को इतिहास का पर्याय माना है। जैन इतिहास-लेखन की परिपाटी वहिकाओं (बहियों) के रूप में मिलती है। प्रबन्धचिन्तामणि में राजा विक्रमादित्य की धर्मवहिका का उल्लेख है। प्रबन्धकोश में स्पष्ट वर्णन है कि वहिकाएँ तीन प्रकार की होती थीं : (१) रोकड़ बही, (२) विलम्ब बही अर्थात् प्रदान बही और (३) परलोक बही या धर्म बही जिनमें इतिहास सुरक्षित रहा।

राजशेखरसूरि ने मेरुतुङ्ग द्वारा स्थापित इतिहास की परम्परा को आगे बढ़ाया। उसने जैन-प्रबन्धों को एक स्वतन्त्र शास्त्र का दर्जा दिया, जो इतिहास का साधन बना। उसने न केवल प्रबन्ध की परिभाषा दी अपितु इतिहास को साहित्य के घेरे से बाहर निकाला। उसने इतिहास को युद्धों और राजसभाओं की परिधि से निकालकर जनसामान्य के धरातल पर ला कर खड़ा कर दिया। चौबीस प्रबन्धों में केवल सात राजवर्ग के प्रबन्ध हैं और शेष आचार्यों, कवियों या सामान्य जनों के हैं। राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में उन्हीं प्रबन्धों का संग्रह किया है जिन्हें उसने अपने आचार्यों से श्रुत-परम्परा में प्राप्त किये थे। उसने इतिहास को परम्परा, स्रोत ग्रन्थों और यथाश्रुति पर आधारित माना।

प्रथम अध्याय में जैन प्रबन्ध का अर्थ और उसकी परिभाषा दी गयी है। 'प्रबन्ध' शब्द का प्रयोग बराबर बदलता रहा है, जैसे कभी महाकाव्य, कभी लेख, कभी शोध-प्रबन्ध। परन्तु जैन-ग्रन्थकारों ने 'प्रबन्ध' शब्द का तकनीकी अर्थ में प्रयोग किया है। जैन-प्रबन्ध छोटे-छोटे अध्याय होते हैं और कई प्रबन्धों को मिलाकर जो ग्रन्थ तैयार किया जाता था उसे प्रबन्ध-ग्रन्थ कहते थे। गुजरात और मालवा में

रचित जो जैन-प्रबन्ध ग्रन्थ हैं ? वे जैनग्रन्थकारों द्वारा तेरहवीं से सोलहवीं शताब्दियों के बीच रचे गये हैं। ये ऐतिहासिक वृत्तान्त प्रायः सरल संस्कृत या प्राकृत गद्य और कभी-कभी पद्य में लिखे गये। हेमचन्द्र प्रथम विद्वान् थे जिन्होंने प्रबन्धकाव्य से भिन्न साहित्य के एक स्वतन्त्र रूप 'प्रबन्ध' के अस्तित्व को मान्यता दी। जैन-प्रबन्ध को सर्वप्रथम स्पष्टतः परिभाषित करने का श्रेय राजशेखरसूरि को है। वह कहते हैं कि आर्यरक्षित के पूर्व के चरित और उसके बाद के लोगों पर लिखे गये प्रबन्ध कहलाते हैं। उसने चौबीस प्रबन्धों में आचार्यों, कवियों, राजाओं एवं सामान्यजनों के उल्लेख किये हैं। यद्यपि आर्यरक्षित के पश्चात् भी 'चरित' लिखे गये हैं।

जैन-चरित और जैन प्रबन्ध में अन्तर है। जैन-चरित अधिक पुराना है। जैसे—पउमचरिउ, त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित, कुमारपाल-चरित आदि। राजशेखर के अनुसार तीर्थंकरों, चक्रवर्तियों आदि और आर्यरक्षित (निघ्न ३० ई०) तक के ऋषियोंके जीवन वृत्तान्त 'चरित' कहलाते हैं और आर्यरक्षित के बादके जीवन-वृत्तान्त प्रबन्ध'। जैनचरित, जैन-प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक बृहद् होते हैं। एक ही पुरुष का 'चरित' एक ही ग्रन्थ में आबद्ध किया जा सकता है जबकि प्रबन्धों के एक ग्रन्थ में कई पुरुषों या घटनाओं के कई छोटे-छोटे प्रबन्ध गूँथे जाते हैं। जैन-चरित अर्द्ध-ऐतिहासिक और पौराणिक होते हैं जबकि जैन-प्रबन्ध अधिकांशतः ऐतिहासिक होते हैं। ए० एन० उपाध्ये के अनुसार विषय-वस्तु और रूप की दृष्टि से इन दोनों में अन्तर है। जैन-प्रबन्ध प्रायः गद्य में हैं जबकि जैन-चरित मुश्किल से गद्य में लिखे गये हैं।

जैन-प्रबन्ध सामान्यतया गुजरात और मालवा के श्वेताम्बरों द्वारा लिखे गये हैं जबकि जैन-चरित श्वेताम्बरों और दिगम्बरों दोनों द्वारा। जैन-प्रबन्धों में उपकथाएँ या अन्तर्कथाएँ कम हैं परन्तु जैन-चरितों में इनकी बहुलता के साथ-साथ विषयान्तर भी हो जाता है। भाषा की दृष्टि से जैन-प्रबन्ध सरल संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में अधिक लिखे गये हैं किन्तु परवर्ती जैन चरित मुख्यतया संस्कृत में ही लिखे गये, जिनकी भाषा अधिक रूढ़िवादी और क्लिष्ट है। जैन-प्रबन्धों की पहचान और जैन-प्रगाली ऐतिहासिक है जबकि जैन-चरितों में इनका अभाव

पाया जाता है। जैन प्रबन्धों में कारणत्व, साक्ष्य, स्रोत, तथ्य, काल-क्रम आदि पर विशेष बल दिया जाता है।

द्वितीय अध्याय की रचना इतिहास-दर्शन के इससूत्र पर आधारित है कि इतिहास के अध्ययन से पहले इतिहासकार का अध्ययन अनिवार्य होता है। रोजर फाउलर ने लिखा है कि 'ग्रन्थकार की जीवनी का ज्ञान उसकी कृतियों को समझने में सहायक सिद्ध होता है।' प्रबन्ध-कोशकार राजशेखर की जीवनी व कृतित्व पर आज तक एक पैराग्राफ भी नहीं लिखा हुआ है। उसके जीवन पर लिखने का यहाँ पर सर्वप्रथम प्रयास किया गया है। प्रबन्धकोश की ग्रन्थकारप्रशस्ति और खरतरगच्छबृहद्गुर्वावलि से विदित होता है कि राजशेखर का जन्म प्रश्नवाहनकुल की कोटिकगण की माध्यमिक शाखा में हुआ था। स्व-ख्याति वह नहीं चाहता था और उसने अपने विषय में ग्रन्थकार-प्रशस्ति के अतिरिक्त कुछ भी बतलाने का प्रयास नहीं किया। अनामता भारतीय कला और संस्कृति की विशेषता है। प्रबन्धकोश के आन्तरिक साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि राजशेखर श्वेताम्बर थे और उसका गच्छ हर्षपुरीय था। अभयदेवसूरि (१२वीं शती के पूर्वार्द्ध) उनके आध्यात्मिक पूर्वज थे। अभयदेवसूरि की परम्परा में तिलकसूरि हुए। राजशेखर इन्हीं तिलकसूरि के शिष्य थे।

प्रबन्धकोश के आन्तरिक साक्ष्यों एवं अन्य ग्रन्थों से सिद्ध होता है कि राजशेखरसूरि का अध्ययन बड़ा व्यापक था। प्रबन्धकोशागत ग्रन्थों के नामों से प्रतीत होता है कि राजशेखर ने जैन आगमसूत्रों का मन्थन, अपने पूर्ववर्ती जैन-चरितों एवं जैन प्रबन्धों का अध्ययन और ब्राह्मण महाकाव्यों एवं पुराणों का भी अनुशीलन किया था। हेमव्याकरण, बृहद्वृत्ति, न्याय, तर्क आदि शास्त्रों की तीन बार आवृत्ति की। राजशेखर ने स्वरचित न्यायकन्दली-पञ्जिका में जिनप्रभसूरि को अपने अध्यापक रूप में स्मरण किया है। स्वयं राजशेखर ने न्यायकन्दली का अध्ययन किया था।

राजशेखर ने ग्यारह विद्याओं के नाम गिनाए हैं और उनके प्रयोग के भी उल्लेख किये हैं, जैसे गगनगामिनीविद्या, परकायाविद्या, सर्ष-पविद्या, हेम-सिद्धि-विद्या आदि। राजशेखरने स्थान-स्थान पर रामायण

और महाभारत के उल्लेख किये हैं जिससे यह प्रमाणित होता है कि वह इन महाकाव्यों से पूर्णतः परिचित थे ।

जगतसिंह के पुत्र शाह महणसिंह की प्रेरणा से १३४९ ई० में राजशेखर ने प्रबन्धकोश की रचना की । राजशेखर की रुचि संगीत की ओर भी थी । उनके शिष्य सुधाकलश संगीत-शास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान् थे । उन्होंने १३४९ ई० में 'संगीतोपनिषत्सारोद्धार' की रचना की । राजशेखर ने प्रबन्धकोश में विभिन्न वाद्ययन्त्रों का उल्लेख किया है जिससे उनके संगीतज्ञान की पुष्टि होती है ।

राजशेखर के अब तक सात-आठ ग्रन्थ प्रकाश में आए हैं : (१) प्रबन्ध-कोश, (२) न्यायकन्दलीपंजिका, (३) द्वयाश्रयकाव्य पर लिखी गयी वृत्ति (४) षड्दर्शनसमुच्चय, (५) अन्तरकथासंग्रह, (६) कहानियों का संग्रह—जिसे कौतुककथा या विनोदकथा भी कहते हैं । (७) स्याद्-वादकालिका, (८) उपदेशचिन्तामणि । इसके अतिरिक्त उन्होंने शान्तिनाथचरित का संशोधन भी किया ।

तृतीय अध्याय में ग्रन्थ-परिचय है । इसमें ग्रंथ-रचना की राजनीतिक और साहित्यिक पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है । रचनाकाल, स्थान, ग्रंथ-शीर्षक, विविध संस्करणों, अनुवादों, रचना उद्देश्यों तथा ग्रन्थ की भाषा शैली पर विचार किया गया है । आश्चर्य है कि राजशेखर ने संस्कृत और प्राकृत के साथ-साथ अरबी शब्दों का भी निःसंकोच प्रयोग किया है ।

ग्रन्थ-परिचय के बाद दो अध्यायों में ग्रन्थगत ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन एवं मूल्यांकन किया गया है । इन २४ प्रबन्धों में दो प्रबन्धों—राजा वङ्कचूल तथा रत्नश्रावक के प्रबन्ध की ऐतिहासिक पहचान नहीं की जा सकी है । मुनि जिनविजय ने ग्रंथ की प्रस्तावना में कहा है कि ऐतिहासिक दृष्टि से वङ्कचूल की कथा और कश्मीर निवासी संघपति रत्नश्रावक की कथा अज्ञात है । राजशेखरसूरि के अनुसार पारेत जनपद की सीमा पर चर्मण्वती नदी के तट पर ढींपुरी नगरी थी । वहाँ के राजा विमलयश ने अपने राजकुमार पुष्पचूल को निर्वासित कर दिया । कालान्तर में वह सिंहगुहापल्ली का पल्लीपति बन गया और सुस्थिताचार्य द्वारा बतलाये गये चार नियमों से उदार-

मना राजा बना । इस अध्याय में पारेत जनपद, चर्मण्वती नदी और रन्ति नदी का समीकरण किया गया है । ढींपुरी तीर्थ की पहचान मालवा की धमनार पहाड़ी से की गयी है । वहाँ अनेक जैन गुफाएँ हैं और बूंदी से कोटा के बीच वालीरी, धमनार की पहाड़ी, चम्बल नदी, झालरापाटन, चन्द्रावती आदि स्थान हैं ।

वङ्कचूल के उदाहरण “वक्कचूडकहा” और गुजराती काव्यों में आते हैं । “रासमाला” में चूडचन्द्र का उल्लेख है । फोर्ब्स उसे यदुवंशी बतलाता है । रूसी पौराणिक शौर्य कथा-साहित्य में वङ्क नामक विधवा-पुत्र के विषय में मिले गीत एक राजकुमारी की कथा पर आधारित हैं । किन्तु ध्वन्यात्मक साम्य के अतिरिक्त चूडचन्द्र या रूसी वङ्क का वङ्कचूल से कोई भी सम्बन्ध नहीं है । वस्तुतः वङ्कचूल ढींपुरी के राजकुमार पुष्पचूल का विद्रूपित नाम था ।

राजशेखर ने वङ्कचूलप्रबन्ध को सातवाहनप्रबन्ध और विक्रमादित्यप्रबन्ध के बीच में स्थान दिया है । इसलिए वङ्कचूल सम्भवतः विक्रमादित्य के पहले अथवा वरिष्ठ समकालीन था । वङ्कचूल प्रथम शताब्दी के पहले का राजपुरुष था; क्योंकि उसे उज्जैनी के विद्वान् राजा का सामन्त और सुस्थिताचार्य का समकालीन कहा गया है । सुस्थिताचार्य का समकालीन चन्द्रगुप्त, मौर्य-साम्राज्य-संस्थापक चन्द्रगुप्त नहीं है, अपितु दशरथ मौर्य का भाई और उत्तराधिकारी सम्प्रति (२१६-२०७ ई० पू०) हो सकता है क्योंकि कई इतिहासकार सम्प्रति को मौर्य वंश का द्वितीय चन्द्रगुप्त मानते हैं ।

सम्प्रति ने अशोक, कुणाल और दशरथ तीनों के शासन-कार्यों में सहायता की थी । उसे पाटलिपुत्र और उज्जैन दोनों में शासन करते हुए दर्शाया गया है । अजमेर, कुम्भलमेर और गिरनार में उसके द्वारा निर्मित और महावीर को समर्पित मन्दिरों के अवशेष आज भी पाये जाते हैं । अभिलेख और मुद्राओं से जैन-धर्म की ओर उसकी रुझान ज्ञात होती है । सम्प्रति के एक सिक्के पर एक ओर ऊपर-नीचे सम्प्र और दी शब्द लिखा है और दूसरी ओर ऊपर-नीचे—और—चिह्न हैं । किसी-किसी सिक्के में — के नीचे — (स्वस्तिक) चिह्न बने हैं । सामान्यतः मौर्य सिक्कों पर ऊपर से नीचे — और — चिह्न हैं ।

जैन प्रभु के सामने यह निशान बनाते हैं। इससे यह समर्थित होता है कि सम्प्रति 'जैन अशोक' और द्वितीय चन्द्रगुप्त कहलाने का अधिकारी था और वह सुस्थिताचार्य और वङ्कचूल का समकालीन था।

(मार्डन रिव्यू)

सम्प्रति ने उज्जयिनी के समीप ढीपुरी नगरी में विमलयश को अधिकारी नियुक्त किया था। प्रस्तुत प्रबन्ध में अति उत्साह के कारण उसे राजा कहा गया है। विमलयश राजसत्ताधारी राजा भले ही न हो किन्तु वङ्कचूलप्रबन्ध के अनुसार सिंहगुहापल्ली का पल्लीपति अवश्य था और उसकी स्थिति आसपास के बीहड़ और पर्वतीय इलाकों में किसी स्थानीय राजा से कम नहीं थी। पहली राजधानी में गुरु सुहस्ति ने सम्प्रति को जैन-धर्म में दीक्षित किया और दूसरी राजधानी के समीप शिष्य सुस्थित ने वङ्कचूल को।

वङ्कचूल द्वारा कामरूप-विजय पर प्रश्न चिन्ह लगाना पड़ता है। प्रबन्ध-कोश में वर्णन है कि वङ्कचूल को उज्जयिनी के राजा का सामन्त बन जाने के बाद कामरूप विजय के लिए जाना पड़ा। अन्य ग्रन्थों में वहाँ के राजा का नाम दुर्धर है। किन्तु ढिपुरी से असम की अत्यधिक भौगोलिक दूरी और यातायात के मन्दगामी साधनों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर ने कामरूप-विजय की कल्पना जैनधर्म के महत्त्व को बढ़ाने के लिए की थी क्योंकि प्रबन्धकार शक्तिपूजा के एक प्रसिद्ध केन्द्र पर जैन धर्मावलम्बी की विजय दर्शाना चाहता था।

सम्प्रति-कालीन सुस्थिताचार्य के चार महीनों के आपात-प्रवास से राजा वङ्कचूल का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ, किन्तु उनके द्वारा बतलाये गये चार नियमों ने उसकी क्रूरता को समाप्त कर उसे उदारमना राजा बना दिया। इस प्रकार राजशेखर ने वङ्कचूल को राजवर्ग में सम्मिलित करने का औचित्य भी दिया।

कश्मीर में नगरों को बसाये जाने की परंपरा कुषाणकाल में स्पष्ट दीख पड़ती है जैसे हुष्कपुर, जुष्कपुर और कनिष्कपुर। सातवाहन पुलमावि 'द्वितीय' ने एक नये शहर "नवनगर" की स्थापना की और "नवनगर स्वामी" की उपाधि धारण की। दक्षिण के होयसल नरेश

नरसिंह 'प्रथम' (११४१-७३ ई०) के चार मुख्य सेनापतियों में हुल्ल जैनधर्म का अनन्य भक्त था। हुल्ल ने श्रवण-बेलगोल में चत्विंशति जिनालय का निर्माण (संभवतः ११५९ ई०में) तथा तीन जैन केन्द्रों का जीर्णोद्धार कराया था। संभवतः उसने उत्तर में भी जिनालयों का निर्माण कराया और उी के नाम पर कश्मीर में एक नया नगर "नवनगर" बसाया गया जो "नवहुल्लनगर" के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

प्रबन्धकोश में पारस्परिक संघर्ष, असन्तोष, वर्ग-संघर्ष आदि के वर्णन मुख्यता नौ प्रबन्धों में आते हैं। जैन होते हुए भी राजशेखर ने वर्ग-संघर्ष सामूहिक हत्याकाण्ड, युद्ध, हिंसा आदि का वर्णन किया है। ये वर्ग-संघर्ष भौतिकवादी कम और आध्यात्मिक अधिक हैं। तुगलक साम्राज्य के हृदय-प्रदेश दिल्ली में रहते हुए राजशेखर ने जिन वर्ग संघर्षों का वर्णन किया है वे उसके सत्यानुराग और इतिहास-प्रियता के प्रतीक हैं।

यद्यपि प्रबन्धकोश की कतिपय तिथियाँ सूक्ष्म-गणना में किंचित त्रुटिपूर्ण हैं तथापि यह स्पष्ट है कि राजशेखर ने कालक्रम को इतिहास का एक अभिन्न अंग माना है और उसका प्रायः निर्वाह किया है। उसने जैन-प्रबन्धों को साहित्य से पृथक करके इतिहास का दर्जा प्रदान किया।

छठे अध्याय में इतिहास-दर्शन के प्रमुख तत्वों के आधार पर स्रोत, साक्ष्य, परंपरा, कारणत्व, कालक्रम आदि का विवेचन किया गया है। इसी में प्रबन्धकोश के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए ग्रंथ-कार की सीमाओं का भी उल्लेख किया गया है।

ए० के० मजुमदार ने राजशेखर को निकृष्टतम इतिवृत्तकार कहा है और वस्तुपाल-तेजपाल प्रबन्ध के कई दोष दर्शाये हैं :

(१) राजशेखर को वाघेलों के प्रारंभिक इतिहास का कम ज्ञान था और वह अर्णोराज को भीम (द्वितीय) का उत्तराधिकारी बना देता है।

(२) वह सोमेश्वर के विचारों का अनुकरण करता है।

(३) वह त्रिभुवनपाल को पूर्णतया विस्मृत कर जाता है।

(४) दिल्ली के सुरत्राण मोजदीन की सेना को वस्तुपाल ने जो शिकस्त दी, वह सन्देहास्पद है। राजशेखर वस्तुपाल का यश-वर्धन सत्य का दांव लगाकर करता है। मजुमदार महोदय उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मेस्तुङ्ग ने एक श्लोक तेजपाल के मुख से कहलवाया है जिसे राजशेखर उद्धृत करता है और कहता है कि वीरधवल के निधन के उपरान्त वस्तुपाल ने उस श्लोक को पढ़ा।

“आयान्ति यान्ति च परे ऋतवः क्रमेण. . .”

जहाँ तक अर्णोराज का सवाल है राजशेखर ने अपने समूचे ग्रन्थ में उसका केवल एक बार उल्लेख किया है। राजशेखर सही कहता है कि वह अर्णोराज चौलुक्यवंशीय था न कि चाहमानवंशीय। राजशेखर ने अर्णोराज को न किसी का उत्तराधिकारी कहा है और न बनाया है। प्रबन्धकोश से यह स्पष्ट है—“तदनु मूलराज—चामुण्डराज—वल्लभराज—दुर्लभराज—भीम—कर्ण—जयसिंहदेव—कुमारपाल—अजयपाल—लघुभीम—अर्णोराजैः चौलुक्यैः सनाथीकृतः।”

“सनाथीकृतः” का तात्पर्य किसी भी स्थिति में उत्तराधिकृत नहीं हो सकता है। “सनाथीकृत” का अर्थ हुआ कि इन चौलुक्यों ने (गुर्जरधरा को) सुरक्षा प्रदान की। अतः राजशेखर की कालक्रमीय सटीकता की प्रशंसा करनी चाहिये। जिस तारतम्य से उसने इन चौलुक्यों का उल्लेख किया है वह कालक्रम की दृष्टि से सही है। मजुमदार ने दूसरी भूल यह की है कि वे अर्णोराज के निधन को भीम (द्वितीय) के शासनारंभ में रखते हैं। परन्तु प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार अर्णोराज ने कुमारपाल से भीम (द्वितीय) तक चौलुक्यों के सामन्त के रूप में शासन किया। मजुमदार के मत के विपरीत समकालिक वसन्तविलास में उल्लेख है कि अर्णोराज ने राजा के पक्ष में रहते हुए राज्य की रक्षा की। अतः राजशेखर द्वारा अर्णोराज को चौलुक्य कहना और उसके द्वारा गुजरात की सुरक्षा करने के कथन की पुष्टि हो जाती है। मजुमदार का यह कथन कि राजशेखर को वाघेलों के प्रारंभिक इतिहास का कम ज्ञान था, भ्रान्तिपूर्ण है। राजशेखर की इतिहासप्रियता और तथ्यों के प्रति ईमानदारी का प्रमाण उसका यह कथन है :—

‘ऐसा प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात होता है। चर्चित-चर्चण करने से क्या लाभ ? कतिपय नवीन प्रबन्धों को प्रकाशित करता हूँ।’

मजुमदार ने प्रबन्धकोश से उद्धरण दिया है—‘अर्णोराज के बाद पहले लवणप्रसाद और बाद में वीरधवल राजा हुए।’ किन्तु मूल में लिखा है :—

‘सम्प्रति युवा पिता-पुत्रौ लवणप्रसाद—वीरधवलौ स्तः।’ अर्थात् इस समय दोनों पिता-पुत्र, लवण प्रसाद और वीरधवल थे। यदि इसे पूर्वोक्त वाक्य के तारतम्य में पढ़ा जाय तो अर्थ निकलेगा कि सम्प्रति लवणप्रसाद और वीरधवल (गुर्जरधरा को) सुरक्षा प्रदान करने वाले थे।

मजुमदार साहब का तीसरा आरोप है कि राजशेखर त्रिभुवनपाल को पूर्णतया विस्मृत कर जाता है। किन्तु यदि मूल ग्रन्थ को पढ़ा जाय तो यह आरोप अनर्गल प्रतीत होगा। पूर्व—उद्धृत मूल पंक्ति में चौलुक्यों में राजशेखर ने केवल त्रिभुवनपाल का नहीं प्रत्युत् बालमूल-राज का भी नाम नहीं दिया है। मूलराज ‘द्वितीय’ (११७६-७८ ई०) का भी राजशेखर ने उल्लेख नहीं किया है। राजशेखर उनका नाम गिनाना चाहता था जिन्होंने गुर्जरधरा को सुरक्षित रखा। त्रिभुवनपाल ने चौलुक्य राज्य खोया और स्वयं अप्रसिद्ध रहा। वह धर्म और साहित्य का पोषक भी नहीं था।

चौथे आरोप के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि यह प्रथम मोज-दीन सुरत्राण ‘इल्लुतमिश’ हो सकता है जिसने १२३४ ई० में भिलसा जीता, उज्जैन को लूटा और महाकाल मन्दिर की तोड़फोड़ की। सम्भवतः उसने गुजरात पर आक्रमण के लिए कोई छोटी टुकड़ी भेजी हो, जिसका वस्तुपाल ने सफलतापूर्वक मुकाबला किया। राजशेखर ने यह नहीं कहा है कि उक्त श्लोक की रचना वस्तुपाल ने की। उसका कहना है कि वीरधवल के निधन के बाद वस्तुपाल ने उक्त श्लोक को पढ़ा। प्रबन्धचिन्तामणि और प्रबन्धकोश में श्लोक एक ही है और निधन के बाद पढ़ा गया बताया जाता है। अन्तर इतना है कि प्रबन्धचिन्तामणि में तेजपाल के मुख से श्लोक कहलूत्राया गया है और प्रबन्धकोश में वस्तुपाल से। यह कोई बहुत बड़ा दोष नहीं है।

सातवें अध्याय में प्रबन्धकोश की अन्य प्रमुख प्रबन्ध ग्रन्थों यथा प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसंग्रह, विविधतीर्थकल्प और कृत भोज-प्रबन्ध से तुलना की गयी है। ऐतिहासिक ग्रन्थों में विक्रमाङ्कदेवचरित और राजतरंगिणी से तुलना की गयी है। प्रबन्धकोश के ऐतिहासिक विवेचन में उसे एक नये दृष्टिकोण से परखा गया है। इसके वस्तुनिष्ठ विवेचन और विश्लेषण का यह प्रथम विनम्र प्रयास है। यह ग्रन्थ इतिहास व इतिहास-दर्शन की कसौटी पर खरा उतरता है निष्कर्ष यह है। कि ऐतिहासिक तथ्यों एवं इतिहास-दर्शन के प्रमुख तत्वों की दृष्टि से राजशेखरसूरि के प्रबन्धकोश में वर्णित प्रबन्ध ऐतिहासिक हैं और यह ग्रन्थ इतिहास का एक महत्वपूर्ण स्रोत है।



**Statement about Ownership and other particular
of the Paper**

SHRAMANA

1. Place of Publication : P. V. Research Institute
I. T. I. Road, Varanasi-5
2. Periodicity of Publication : First week of english
calendar month
3. Printer's Name, Nationality and Address : Dr. Sagar Mal Jain
Indian
Divine Printers
13/44, Sonarpura, Varanasi
4. Publisher's Name, Nationality and Address : Dr. Sagar Mal Jain
Indian
P. V. Research Institute
I. T. I. Road, Varanasi-5
5. Editor's Name, Nationality and Address : Same
6. Names and Address of individuals who own the Paper and Partners or share-holders holding more than one per cent of the total capital. : Shri Sohanlal Jain Vidya
Prasarak Samiti
Guru Bazar, Amritsar
(Registered under Act XXI
as 1860)

I, Dr. Sagar Mal Jain hereby declare that the particular given above are true to the best of the knowledge and believe.

Dated 1-4-90

Signature of the Publishers
S/d Dr. Sagar Mal Jain

विद्याश्रम की गतिविधियाँ

विगत ३ माहों में विद्याश्रम की गतिविधियाँ निम्न रहीं—

(१) २२ मार्च का विद्याश्रम के प्रांगण में नवस्थापित रुक्मिणी देवी दीपचन्द गार्डी प्राकृत एवं जैन विद्या उच्च अध्ययन केन्द्र की औपचारिक उद्घाटनविधि श्रेष्ठिवर्य श्रीदीपचन्दजी गार्डी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुई। कार्यक्रम की अध्यक्षता तिव्वती उच्च अध्ययन संस्थान, सारनाथ के निदेशक प्रो० समदोण रिपोछे ने की। इसी अवसर पर संस्थान के नवीन प्रकाशनों के विमोचन का भी कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। विमोचनकर्ता विद्वानों में प्रो० अवधकिशोर नारायण, विस्कॉन्सिन यूनिवर्सिटी यू० एस० ए०; प्रो० नित्यानन्द मिश्र, भागलपुर विश्वविद्यालय; श्री ओ० पी० टण्डन, विशेषकार्याधिकारी, का० हि० वि० वि; प्रो० भोलाशंकर व्यास, का० हि० वि० वि०; श्री चन्दनमल चांद आदि थे। इस अवसर पर शोध संस्थान की संचालक समिति के अध्यक्ष श्री विजय कुमार जी मोतीवाला, उपाध्यक्ष श्री नृपराज जैन, श्री किशोरवर्धन जैन, कोषाध्यक्ष श्री सुमतिप्रकाश जैन, सहमंत्री श्री शौरीलाल जैन तथा स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष श्री पुखराज जी लुं कड़ आदि की उपस्थिति विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण थी।

इस अवसर पर विमोचित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १-३
द्वितीय संस्करण
२. हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास, खण्ड-१
३. चार तीर्थङ्कर (द्वितीय संस्करण)
४. Jainism : The Oldest Living Religion
2nd Edition
५. स्याद्ववाद और सप्तभंगी : आधुनिक व्याख्या
६. जैनमेघदूतम् : मूल, वृत्ति एवं विस्तृत व्याख्या

(२) श्रीमती रुक्मिणीदेवी दीपचन्द गार्डी प्राकृत एवं जैनविद्या उच्च अध्ययन केन्द्र द्वारा संचालित प्राकृत एवं जैन विद्या स्नातकोत्तर प्रमाणपत्रोपाधि परीक्षा मई माह में आयोजित की गयी ।

(३) संस्थान के शोध सहायक श्री इन्द्रेशचन्द्र सिंह ने अपना शोध प्रबन्ध प्राचीन भारतीय सैन्य विज्ञान एवं युद्ध नीति : जैन स्रोतों के आधार पर" काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में परीक्षणार्थ प्रस्तुत कर दिया । शोध छात्र श्री धनंजय मिश्र का शोध प्रबन्ध भी अब पूर्णता की ओर है । उनकी शोध प्रबन्ध प्रस्तुति पूर्व संगोष्ठी भी मई माह में ही सम्पन्न हुई ।

संस्थान के लिये यह गर्व का विषय है कि संस्थान के शोध छात्र श्री श्रीनारायण दुबे को उनके शोध प्रबन्ध—१२वीं शताब्दी तक के जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन नामक शोध प्रबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी ।

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के शोधाधिकारी डॉ० अशोक कुमार सिंह की मातुश्री का दिनांक ३१ मई १९९० को स्वर्गवास हो गया । विद्याश्रम में दिनांक १-६-९० को शोकसभा करके उन्हें शोक संवेदना श्रद्धाञ्जलि अर्पित की गयी ।

श्री शैरीलाल जैन सम्मानित

पार्श्वनाथ विद्याश्रम के लिये यह अत्यन्त गौरव की बात है कि संस्थान की संचालकसमिति के सहमंत्री श्री शैरीलाल जी जैन को दि० १९-२-९० को दिल्ली में द फेडरेशन ऑफ आल इण्डिया ऑप्टिकल एसोसिएशन द्वारा ऑप्टिकल उद्योग एवं व्यवसाय के क्षेत्र में उनके द्वारा की गयी उत्कृष्ट सेवाओं के लिये सम्मानित करते हुये 'रजत-पट' भेंट किया गया । ज्ञातव्य है कि गतवर्ष देहली ऑप्टिकल एसोसिएशन द्वारा भी शैरीलाल जी को इसी तरह सम्मानित किया जा चुका है । श्री जैन को यह सम्मान उनके द्वारा 'ऑप्टिक एसोसिएशन, देहली के अध्यक्ष पद एवं 'इन्टरनेशनल ऑप्टिक फेयर' के व्यवस्थापक सचिव के रूप में की गयी अविस्मरणीय सेवाओं के लिये प्रदान किया गया । पार्श्वनाथ विद्याश्रम परिवार भी उन्हें इस अवसर पर अपनी बधाई प्रेषित करता है ।

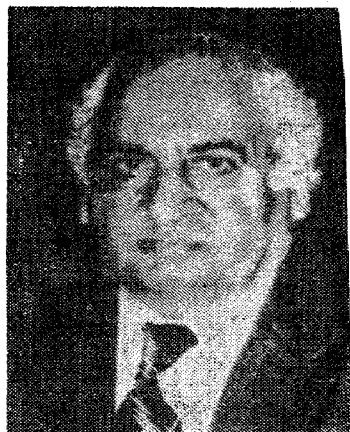
जैन जगत्

श्री पंजाब जैन भ्रातृसभा, बम्बई

के पूर्व अध्यक्ष

श्री हरीश चन्द्र जैन

का निधन



श्री पंजाब जैन भ्रातृसभा, खार-बम्बई के संस्थापकसदस्य तथा पूर्व अध्यक्ष श्री हरीश चन्द्रजी जैन का दि० ८-५-९० को ७५ वर्ष की आयु में बम्बई में निधन हो गया। आपके परिवार में आपकी धर्म-पत्नी, ५ पुत्र और ३ पुत्रियां हैं।

श्री हरीश जी का जन्म सन् १९१५ में अफ्रीका के प्रमुख नगर नैरोबी में हुआ था। आपकी शिक्षा-दीक्षा लाहौर में हुई। अपनी अल्पायु में ही आपने अपने पूज्य पिता श्री जगन्नाथ जैनी के सहायक के रूप में विज्ञापन व्यवसाय में प्रवेश किया और सन् १९६८ में विश्वप्रसिद्ध विज्ञापन एजेन्सी जयसन्स एडवरटाइजिंग की नींव डाली। आज न केवल भारत बल्कि विश्व के अनेक प्रमुख नगरों में इसकी शाखाएँ हैं। श्री हरीश जी प्रथम भारतीय थे जिन्होंने १९६७ में लन्दन में आयोजित वर्ल्ड एडवरटाइजिंग कांग्रेस के एक सत्र की अध्यक्षता की।

जन्म से स्थानकवासी होते हुए भी आप अन्य जैन तथा जैनेतर समुदायों एवं शिक्षण संस्थाओं से सक्रिय रूप से संबद्ध थे। सन् १९८१ से १९८५ तक आप पंजाब जैन भ्रातृसभा के अध्यक्ष रहे। आपके प्रयत्न ही खार के एक प्रमुख उपमार्ग का नामकरण अहिंसा मार्ग रखा गया। पिछले महावीर जयन्ती के अवसर पर आपने एक जैन पत्रिका अनुकम्पा के प्रकाशन की घोषणा की थी। किन्तु पत्रिकाके प्रकाशन का

कार्य प्रारम्भ होने के पूर्व ही आप दिवंगत हो गये । आपके निधन से न केवल भ्रातृसभा बल्कि सम्पूर्ण जैन समाज की अपूरणीय क्षति हुई है । विद्याश्रम परिवार की ओर से स्व० श्रीहरीश जी को हार्दिक श्रद्धाञ्जलि.....।

डा० फूलचन्दजी जैन 'प्रेमी'

साहित्य पुरस्कार से पुनः सम्मानित

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के लिये यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि विद्याश्रम के पूर्व शोधछात्र और सम्प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के 'श्रमण विद्या संकाय' में जैनदर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० फूलचन्द जीन को उनके द्वारा लिखित और संस्थान द्वारा प्रकाशित शोध ग्रन्थ—'सूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन' पर श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर द्वारा प्रवर्तित स्व० श्रीचम्पालाल सांड स्मृति पुरस्कार से सम्मानित किया गया । ज्ञातव्य है कि डा० जैन को इसी ग्रन्थ पर जैन विद्या संस्थान, जयपुर द्वारा महावीर पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है । पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के शोध छात्र के रूप उनके द्वारा किया गया यह शोध कार्य, जो उसी संस्थान द्वारा प्रकाशित भी हुआ है, इस संस्थान द्वारा जैन विद्या के क्षेत्र में किये गये कार्यों की गरिमा को स्पष्ट करता है ।

राजश्री पिक्चर्स द्वारा जैन महोत्सव वीडियो कैसेट

एवं

टेप कैसेट का निर्माण

राजश्री पिक्चर्स, बम्बई द्वारा प्रसिद्ध फिल्म निर्माता श्री ताराचन्द जी वडजात्या की धर्मपत्नी श्रीमती शान्तादेवी की पुण्य स्मृति में ११ लघु फिल्मों का 'जैन महोत्सव' के नाम से एक वीडियो कैसेट तथा समयसार, छहडाला और द्रव्यसंग्रह को संगीत गायन और हिन्दी वाचन के माध्यम से टेप कैसेट के रूप में बिक्री हेतु प्रस्तुत किया है । राजश्री पिक्चर्स के उक्त प्रयास से प्राकृतभाषा से अनभिज्ञ धर्मप्रेमीजन भी उक्त ग्रन्थों के श्रवण-मनन तथा तीर्थदर्शन का लाभ ले सकेंगे ।

साहित्य सत्कार

“संस्कृत शतक परम्परा और आचार्य विद्यासागर के शतक;”
लेखक : डॉ० आशालता मलैया; प्रकाशक : जयश्री आयल मिल,
दुर्ग; मूल्य : १२०.०० (एक सौ बीस रुपये)

प्रस्तुत कृति डॉ० आशालता मलैया के सागर विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध-प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। इसमें विद्वान लेखिका ने प्रथम दो सौ पचास पृष्ठों में संस्कृत साहित्य में रचित वैराग्य, नीति और शृङ्गार शतकों के साथ-साथ स्तुति शतकों का विवरण प्रस्तुत किया है और उसका यथाशक्ति मूल्यांकन भी किया है। इसमें ४६ शतकों का विवरण दिया गया है, शेष २५० पृष्ठों में आचार्य विद्यासागरजी के पांच शतकों के परिचय के साथ उनके व्यक्तित्व, कृतित्व एवं उनके शतकों के मूल्यांकन का प्रयत्न भी किया गया है। भाषा, प्रस्तुतिकरण की शैली आदि सभी दृष्टि से ग्रन्थ उत्तम और संग्रहणीय है। इस ग्रन्थ के माध्यम से उन्होंने न केवल आचार्य श्री विद्यासागरजी की विद्यासाधना को उजागर किया है, अपितु यह भी सिद्ध किया है कि जैनों में अद्यतन संस्कृत भाषा में लेखन की परम्परा जीवित है। आचार्य विद्यासागरजी का व्यक्तित्व निश्चित ही महान है। उनमें साधना के सौरभ और ज्ञानगांभीर्य दोनों एक साथ उपलब्ध हैं। ऐसे महिमामयी व्यक्तित्व की साहित्यिक साधना को उजागर करने वाला ग्रन्थ निश्चय ही विद्वत् समाज में आदरणीय होगा। किन्तु ग्रन्थ में एक अभाव सबसे अधिक खटकता है वह यह है कि उन्होंने इस ग्रन्थ में विवेच्य शतकों में किसी भी श्वेताम्बर आचार्य की कृति का समावेश नहीं किया है, जबकि दिगम्बर जैन एवं जैनेतर आदि परम्पराओं के शतकों को स्थान दिया है। मैं नहीं मानता कि उन्होंने साम्प्रदायिक आग्रहवश ऐसा किया होगा किन्तु इस सम्बन्ध में उनका अज्ञान ही इसका कारण हो सकता है। श्वेताम्बर जैनाचार्यों की शतक कृतियों में हरिभद्र का योगशतक, सोमप्रभसूरि का सिन्दूरप्रकरण, धनद के शृंगार, नीति और वैराग्यशतक, धनदेव का पद्मानन्द (वैराग्य) शतक, विजयसिंहसूरि का साम्यशतक, तरचन्द्र उपाध्याय का प्रश्नशतक तथा सोमसुन्दर का शृंगारवैराग्य-

शतक आदि उल्लेखनीय हैं। काश ! इन ग्रन्थों का भी प्रस्तुत कृति में निर्देश किया गया होता तो ग्रन्थ की गरिमा में और भी वृद्धि हो जाती।

सिरिसहजानंदधनचरियं : रचयिता—श्री भवंरलाल नाहटा; संपा० महोपाध्याय चन्द्रप्रभसागर; पृ० १६ + १०१; प्रकाशन वर्ष—१९८९; प्रकाशक—प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर—३०२००३।

जैन विद्या के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री भवंरलाल नाहटा द्वारा रचित सिरिसहजानन्दधनचरियं एक अपभ्रंश काव्य है। प्रो० सत्यरंजन वंदोपाध्याय ने इसे अपभ्रंश के अंतिम स्तर की भाषा अवहट्ट (अपभ्रष्ट) में रचित बतलाया है। यह रचना २४४ श्लोकों में है, साथ ही उसका हिन्दी अनुवाद भी दिया गया है।

अध्यात्मयोगी अवधूत श्री सहजानंदधनजी आधुनिक युग के एक ऐसे महान् सन्त हुए हैं, जिनके जीवन से अनेक लोगों ने प्रेरणायें प्राप्त की हैं। श्री नाहटाजी अनेक अवसरों पर योगी जी के साथ रहे। उन्हें उनके जीवन के विविध पहलुओं को देखने का अवसर मिला, जिसका उन्होंने इस रचना में उल्लेख किया है।

आज के युग में जब प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं का पठन पाठन लुप्तप्राय है, केवल कुछ लोग ही इन भाषाओं के ज्ञाता हैं, ऐसे समय में श्री भवंरलाल जी नाहटा ने अपनी इस रचना के माध्यम से लुप्त अपभ्रंश काव्य के पुनरुद्धार का एक प्रयास किया है, साथ ही प्रत्येक श्लोक के साथ उसका हिन्दी अनुवाद देकर सर्वसाधारण के लिये इस पुस्तक को ग्राह्य बना दिया है। वस्तुतः यह जीवनी इतनी प्रभावशाली शैली में है कि बिना पूरा पढ़े पाठक को संतुष्टि नहीं होती। ऐसी महत्त्वपूर्ण और लोकोपकारी कृति की रचना श्री नाहटाजी ऐसे समर्थ विद्वान् के ही वश की बात है।

हरिवंशपुराण : एक सांस्कृतिक अध्ययन : लेखक—डॉ० राममूर्ति चौधरी; पृ० ८ + ३७३; मूल्य—१३२ रुपये; प्रथम संस्करण—१९८९; प्रकाशक—सुलभ प्रकाशन, १७, अशोक मार्ग, लखनऊ।

प्रस्तुत पुस्तक “हरिवंशपुराण का सांस्कृतिक अध्ययन” काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोधप्रबन्ध का मुद्रित रूप है।

हरिवंशपुराण दिगम्बर जैन परम्परा का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसमें सांस्कृतिक महत्त्व की अनेक बातें गुम्फित हैं। लेखक ने इनके अध्ययन के लिए ग्रन्थ से प्राप्त सांस्कृतिक सामग्री को वर्गीकृत करते हुए समसामयिक अन्य ग्रन्थोंसे उनका तुलनात्मक अध्ययन किया है। ग्रन्थ ६ अध्यायों में विभक्त है—प्रथम अध्याय में ग्रन्थकार और ग्रन्थ का परिचय तथा तत्कालीन राजनैतिक और सांस्कृतिक गतिविधियों की चर्चा है। द्वितीय अध्याय में सामाजिक जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्याय में जैन दर्शन के साथ-साथ वैष्णव, शैव, शाक्त और नास्तिक प्रभृति जैनेतर धर्मों का भी विवेचन है। चतुर्थ अध्याय में राज्य, नगर, ग्राम आदि सम्बन्धी शासन-व्यवस्था का विशद विवेचन है। ग्रन्थ का पंचम अध्याय स्थापत्य एवं कला से संबद्ध है। छठे और अंतिम अध्याय में शोधग्रन्थ के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्षों का विवरण है। विद्वान् लेखक ने ग्रन्थ का सम्यक अध्ययन प्रस्तुत करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। यह ग्रन्थ शोधार्थियों के लिये निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होगा और लेखक के श्रम को सार्थक करेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

आगममुक्ता—उपाध्याय केवलमुनि, पृष्ठ १६+२३८, मूल्य—३५ रूपया, प्रथम संस्करण—सितम्बर-१९८९; प्रकाशक—दिवाकर प्रकाशन, ७-ए, अवागढ़ हाउस, आगरा-२८२००२, उत्तर प्रदेश।

उपाध्याय श्री केवलमुनिजी स्थानकवासी जैन समाज के प्रसिद्ध विद्वान्, आगम मर्मज्ञ, कथाशिल्पी और कुशलवक्ता हैं। आप द्वारा लिखित लगभग ५० कथायें और उपन्यास प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत कृति 'आगममुक्ता' आगम वचन एवं उनका रहस्योद्घाटन करने वाला एक महान ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत आपने विरक्ति, धर्मश्रद्धा, आत्मदर्शन, गहीं, जिनस्तुति, वन्दना, आत्मा का स्नान, कायोत्सर्ग, प्रत्याख्यान, क्षमापना, पृच्छा, स्वाध्याय, अनुप्रेक्षा आदि ३२ विषयों पर आगमों का उद्धरण देते हुए उनकी विवेचना की है। यह पुस्तक समाज के सभी वर्गों के लिये समान रूप से उपयोगी है।

पुस्तक की साज-सज्जा आकर्षक तथा मुद्रण त्रुटि रहित है। ऐसे सुन्दर प्रकाशन के लिए लेखक और प्रकाशक धन्यवादाह हैं।

जैन न्याय शास्त्र : एक परिशीलन—विजयमुनि शास्त्री, पृष्ठ-१०+१७६; मूल्य-२० रूपया; प्रथम संस्करण—मार्च-१९९०; प्रकाशक—दिवाकर प्रकाशन, अवागढ़ हाउस, आगरा-२८२००२, उत्तर प्रदेश ।

राष्ट्रसंत उपाध्याय अमर मुनिजी के सुशिष्य श्री विजयमुनिजी एक गम्भीर अध्येता एवं उत्कृष्ट वक्ता के रूप में विख्यात हैं । विवेच्य पुस्तक में प्रमाण, नय और निक्षेप का अत्यन्त सरल और संक्षिप्त किन्तु प्रभावशाली शैली में विवेचन किया गया है, जिससे सामान्य पाठकों को ऐसे दुरुह विषय भी सरस प्रतीत होते हैं । वस्तुतः पूर्व में भी इन विषयों पर लिखा जा चुका है, परन्तु वह जनसामान्य के लिये नहीं अपितु विद्वत् वर्ग के लिये ही उपयोगी सिद्ध हुआ है । मुनिजी के इस श्रम से जनसामान्य भी उक्त गूढ़ विषयों का रसास्वादन कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं ।

X

X

X

जैन दर्शन में बन्ध-मोक्ष—लेखक : डा० योगेशचन्द्र जैन, प्रकाशक : श्री भूपकिशोर स्वाध्याय समिति, मुरार, ग्वालियर (म० प्र०); मूल्य : ४-०० रूपया ।

प्रस्तुत कृति एम० ए० उत्तरार्ध संस्कृत परीक्षा में लिखा गया लघु शोध निबन्ध है । इसमें जैन दर्शन के अनुसार बन्ध एवं मोक्ष की अवधारणाओं का विवेचन हुआ है । बन्ध का स्वरूप, बन्ध के कारण, मोक्ष का स्वरूप और उसके साधन इसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय हैं । इसमें बन्ध और मोक्ष सम्बन्धी अन्य दर्शनों की अवधारणाओं का तुलनात्मक विवेचन और में पुद्गल के स्वरूप की चर्चा की गई है । विवेचन सप्रमाण, युक्तिसंगत और स्तरीय है । इस लघु ग्रन्थ के लिए लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं ।

देविदत्तओ (देवेन्द्रस्तव) अनुवादक और व्याकरणात्मक-विश्लेषक-डा० सुभाष कोठारी एवं श्री सुरेश सिसोदिया, पृ० ७१+१५१; मूल्य ५० रूपये; प्रथम संस्करण : नम्बर १९८८ ई०; प्रकाशक—आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत शोध संस्थान, पद्मिनी मार्ग, उदयपुर, (राजस्थान) ।

प्रस्तुत कृति में देविदत्तओ (देवेन्द्रस्तव) का शब्दानुसारी हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है और इसके साथ-साथ ग्रन्थ में प्रत्येक गाथा का व्याकरणिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है जो अर्थबोध और प्राकृत भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। देवेन्द्रस्तव श्वेताम्बर आगम साहित्य के प्राचीन ग्रन्थों में एक महत्त्वपूर्ण प्रकीर्णक ग्रन्थ है। यद्यपि नामकरण से ऐसा लगता है कि यह देवेन्द्र की स्तुति होगी, परन्तु वास्तविकता यह है कि यह देवेन्द्र की स्तुति न हो कर विभिन्न प्रकार के देवों के विभिन्न पक्षों का एक विस्तृत विवरण है। प्रस्तुत कृति की विशेषता यह है कि इसके प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका दी गयी है जो ग्रन्थ के विभिन्न पक्षों को गम्भीरतापूर्वक प्रस्तुत करती है। विवेच्य ग्रन्थ की गाथायें अन्य आगमों में कहाँ और किस रूप में पायी जाती हैं—उनका विश्लेषणात्मक विवरण दिया गया है, जो महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ पठनीय और संग्रहणीय है।

X

X

X

उपासकदशाङ्गः एक अध्ययन—डा० सुभाष कोठारी; मूल्य ५० रुपये; प्रथम संस्करण : नवम्बर १९८८ ई०; प्रकाशक—आगम अहिंसा समता और प्राकृत संस्थान, पद्मिनी मार्ग, उदयपुर (राजस्थान)।

प्रस्तुत कृति डा० सुभाष कोठारी द्वारा उदयपुर विश्वविद्यालय में प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का मुद्रित रूप है। इस शोध प्रबन्ध पर उन्हें विश्वविद्यालय द्वारा पी० एच० डी० की उपाधि प्रदान की गयी। विवेच्य कृति की विशेषता यह है कि यह न केवल उपासकदशाङ्ग में वर्णित श्रावकचार का विस्तृत और तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत करती है अपितु इसके साथ ही उस ग्रन्थ का भाषाशास्त्रीय अध्ययन भी प्रस्तुत करती है। उपासकदशाङ्ग में जैन श्रावकाचार का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है अतः श्रावक आचार में रचि रखने वालों के लिये यह ग्रन्थ उपादेय और पठनीय है। ग्रन्थ का मुद्रण और साज-सज्जा आकर्षक है। ग्रन्थ के प्रकाशन के लिये लेखक और प्रकाशक बधाई के पात्र हैं।

X

X

X

जम्बू गुणरत्नमाला एवं अन्य रचनायें : रचनाकार—श्री जेठमल चौरड़िया; पृ० १९+१३५; तृतीय संस्करण १९८९ ई०; मूल्य १८

रूपये; प्रकाशक—चम्पालाल चौरड़िया, चौरड़िया भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर—३०२००३ ।

प्रस्तुत पुस्तक में कविवर जेठमल जी चौरड़िया द्वारा रचित जम्बूस्वामी के जीवन पर आधारित काव्य जम्बूगुणरत्नमाला एवं कुछ फुटकर रचनाओं का संकलन है । यद्यपि जम्बूगुणरत्नमाला विगत ७३ वर्षों में दो बार प्रकाशित हो चुकी है, परन्तु विगत कई वर्षों से अनुपलब्ध थी । प्रख्यात रत्न व्यवसायी श्री चम्पालाल चौरड़िया ने अपने पूर्वज श्रीजेठमल जी द्वारा रचित भक्ति-रचनाओं को पुनः प्रकाशित कर एक अभिनन्दनीय कार्य किया है । पुस्तक के प्रारम्भ में प्रो०नरेन्द्र भानावत द्वारा लिखित १२ पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण भूमिका भी दी गयी है । पुस्तक की साज-सज्जा उत्तम तथा मुद्रण त्रुटिरहित है ।

X

X

X

शांति कृपा बिदु 'स्वामी श्री शान्तिस्वरूपजी म०सा० स्मारिका'—संपा० मुनि श्री आशीष, पृ० १२+२२४; प्रकाशन वर्ष जनवरी १९८९ ई० ।

प्रस्तुत कृति मुनि श्री शान्तिस्वरूपजी म० सा० की जन्म जयन्ती के पावन अवसर पर मुनिश्री के उदार श्रावकों द्वारा प्रकाशित की गयी है । इसमें मुनिश्री के प्रेरक एवं अनुकरणीय व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाले विभिन्न मुनियों एवं श्रावकों द्वारा लिखे गये संस्मरणों को स्थान दिया गया है । पुस्तक पठनीय और संग्रहणीय है ।

X

X

X

आयार-सुत्त (आचाराङ्गसूत्र)—संपा-अनुवादक महोपाध्याय श्री चन्द्रप्रभासागर; पृ० ८—२२९; प्रकाशन वर्ष—दिसम्बर १९८९; मूल्य-३० रूपये मात्र । प्रकाशक—प्राकृत भारतीय अकादमी, जयपुर तथा अन्य ।

आयार-सुत्त (आचाराङ्गसूत्र) जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है । इसमें जैन मुनि के आचार के जिन सिद्धान्तों और नियमों का मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन किया गया है वह

USE GEE-FLO REFILLS

**FOR
SMOOTH WRITINGS**



Manufactured by :
LION PENCILS PVT. LTD.

**23, Nariman Bhavan
2nd Floor, 227 Backbay Reclamation
Nariman Point, BOMBAY-400021**

Phone ; 230005-241765

Cable : JOCELYN

श्रमण

अप्रैल-जून १९९० रजि० नं० एल० ३९ फोन ३११४६२



transform plastic ideas
into beautiful shape

NUCHEM MOULDS & DIES

Our high-precision moulds and dies are designed to give your moulded product clean, flawless lines. Fully tested to give instant production the moulds are made of special alloy steel, hard-chrome-plated for a better finish.

Get in touch with us for information on compression, injection or transfer moulds. Send a drawing or a sample of your design. If required we can undertake jobs' right from the designing stage.

Write to :

***Nuchem* PLASTICS LTD.**

Engineering Division 20/6, Mathura Road, Faridabad (Haryana)

Edited by Dr. Sagar Mal Jain and Published by the
Director, P. V. Research Institute, Varanasi-221005
Printed at Divine Printers, Sonarpura, Varanasi.